विषय सूची ।

॥ इति ॥

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रस्तावना

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में तेरापंथ और वीसपंथ की कल्पना करना योग्य नहीं है। काल के परिवर्तन से अथवा यों कहो कि ज्ञान की मन्दता से और अज्ञान की दिनों दिन वृद्धि होने से ये कल्पनायें चल पड़ी हैं। इनका किसी शास्त्र में नाम निशान तक देखने में नहीं आता। दिगम्बर सम्प्रदाय में ये कल्पनायें कैसे और कब चली इसका मैं ठीक २ निर्णय नहीं कर सकता। परन्तु वर्तमान कालिक प्रवृत्ति और परस्पर की ईर्षा बुद्धि से इतना कह भी सकता हूँ कि ये कल्पनायें अभिमान और दुराग्रह के अधिक जोर होने से चली हैं। अस्तु। आज इसी विषय की ठीक २ परीक्षा करना है कि सत्य बात क्या है? परन्तु इसके पहले उस सामग्री की भी आवश्यक्ता पड़ेगी जिससे यथार्थ बात की परीक्षा की जा सके। यह मामला धर्म का है और धर्म तीर्थंकरों तथा उनकी बाणी के प्रचारक महार्षियों के आधार है। इसलिये इस विषम विषय की परीक्षा करने में हम भी उन्हीं का आश्रय स्वीकार करेंगे। यद्यपि दोनों कल्पनाओं को मैं मिथ्या समझता हूँ परन्तु इस का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि जो सम्प्रदाय किसी प्रकार शास्त्र के मार्ग पर चलती हो उसे भी मैं ठीक न समझूं किन्तु वह सम्प्रदाय उससे अवश्य अच्छी है जो शास्त्रों से सर्वथा प्रतिकूल है।

यह पुस्तक निष्पक्ष बुद्धि वालों के लिये सुमार्ग के बताने को आदर्श होगी। इसलिये यदि कोई बात तेरापंथ मंडली के अनुकूल न हो तो वे महाशय यह न समझें कि यह विषय हमारे विरुद्ध और वीसपंथ के सन्तोष कराने के लिये है। अथवा इसी प्रकार कोई बात वीसपंथ सम्प्रदाय के विरुद्ध हो तो वे भी उसका उल्टा अर्थ न करें। किन्तु निष्पक्ष बुद्धि से उभय सम्प्रदाय के महाशय उस पर विचार करें। यही मेरी सविनय प्रार्थना है। मेरा अभिप्राय किसी से द्वेष वा प्रेम करने का नहीं है जो एक को प्रसन्न और एक को नाखुश करने का प्रयत्न करूँ, किन्तु दोनों पर समबुद्धि है। इसका मतलब यह नहीं कहा जा सकेगा कि इससे मैं प्राचीन महर्षियों के विरुद्ध लिखने का साहस करूँगा ? उनके बचनों पर तो मेरा दृढ़ विश्वास है वे किसी हालत में अलीक नहीं हो सकते। क्योंकि—

विनष्टे मुनिवाक्येऽपि प्रामाण्यं वचने कुतः

पाठक महाशय ! इस ग्रन्थ के लिखते समय पक्षपात बुद्धि को कोसों दूर रक्खी है और इसी सिद्धान्त पर हमारा पूर्ण भरोसा है। इसलिये यदि कोई बात किसी सज्जन महाशय की समझ में न आवे और यदि वे उसे शास्त्र तथा युक्तियों के द्वारा असिद्ध ठहराने का प्रयत्न करेंगे और वह मेरी समझ में ठीक २ आ जावेगी तो मैं उसे फौरन छोड़ दूंगा जिस पर पहले मेरा विश्वास था। यह बात मैं अपने निष्पक्ष हृदय से कहता हूं। अन्यथा मेरा कहना है कि जिस सुमार्ग पर बड़े २ विद्वानों का सिद्धान्त है उसी का अनुकरण करना चाहिये। यदि कोई यह कहे कि जो यह बात कही गई है कि इस पुस्तक के लिखते समय

पक्षपात नहीं किया गया है यह असंगत है कि बहुना यदि निष्पक्ष बुद्धि होती तो इसके बनाने के लिये इतना श्रम नहीं उठाना पड़ता इसलिये इस विषय में पक्षपात है या नहीं इसके लिये पुस्तक ही निदर्शन है ?

यह बात विचाराधीन है कि पक्षपात किसे कहते हैं मेरी समझ के अनुसार यह पक्षपात नहीं कहा जा सकता । पक्षपात उसे कहते हैं कि जो बात सरासर झूँठी है और उसके ही पुष्ट करने का प्रयत्न किया जाय तो बेशक उसे पक्षपात कहना चाहिये । सो तो हमने नहीं किया है । यही कारण है कि इस ग्रन्थ में जितने विषय लिखे हैं उन सब को प्राचीन महर्षियों के अनुसार लिखने का प्रयत्न किया है । अपने मनोऽनुकूल एक अक्षर भी नहीं लिखा है फिर भी इसे पक्षपात बताना यह पक्षपात नहीं तो क्या है? फिर तो यों कहना चाहिये कि ग्रन्थकारों ने जो जगह २ अन्यमतादिकों का निरास किया है उन सब का कथन पक्षपात से भरा हुआ है । इस तरह के श्रद्धान को सिवाय भ्रम के और क्या कहा जा सकता है । और न ऐसे श्रद्धान को बड़े लोग अच्छा कहेंगे । वास्तव में पक्षपात उसे कहना चाहिये जो शास्त्रों के विरुद्ध, प्राचीन प्रवृत्ति के विरुद्ध हो और उसे ही हेयोपादेय के विचार रहित पुष्ट करने का प्रयत्न किया जाय । शास्त्रों के कथनानुसार विषयों के मानने से पक्षपात नहीं कहा जा सकता इसी से कहते हैं कि—

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ।

इसकी प्रथमा वृत्ति में दूसरे भाग के प्रकाशित करने का विचार किया था परन्तु कितने विशेष कारणों से उसके लायक सामान तय्यार नहीं कर सके इसलिये उस विचार को स्थिर

रख कर कितने और भी विषय इसी में मिला दिये हैं। पाठक इसे ही द्वितीय भाग समझें। यदि हो सका तो फिर कभी उन्हीं विषयों को लिखकर पृथक रूप से प्रकाशित करेंगे जिनको दूसरे भाग में प्रकाशित करने का विचार किया था।

पहले संस्करण मे जिनका यह कहना था कि इस में कटाक्ष विशेष किये गये हैं यद्यपि इसे हम स्वीकार करते हैं परन्तु साथ ही यह भी कहे देते हैं कि ये आक्षेप उन आक्षेपों की शतांश कला को भी स्पर्श नहीं कर सकते हैं जो आक्षेप बड़े २ प्राचीन महर्षियों के ऊपर किये जाते हैं। अस्तु,

चन्द्रमा के ऊपर धूल फेंकने से चन्द्रमा की कुछ हानि नहीं है किन्तु वही धूल अपने ऊपर पड़कर अपनी ही हानि की कारण बनेगी। जो हो उन के दूर करने का भी अब की बार जहां तक हो सका बहुत कुछ प्रयत्न किया गया है आशा है कि पाठक महोदय पुस्तक को पढ़कर इसका विचार करेंगे।

इसी प्रस्तावना के आगे "मेरा वक्तव्य" शीर्षक लेख लिखा गया है वह स्वतन्त्र लेख है उससे पुस्तक का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है शायद उसमे कहीं पर लेखनी में कठोरता आगई हो तो पाठक उसे मेरा ही दोष कहें ग्रन्थ को लांछन न लगावें। उस लेख में यह क्या किया गया है इसका कारण लेख मे अपने आप समुद्भूत हो जायगा। स्थिति को देखकर वह भी बुरा नहीं कहा जा सकता। तौ भी हम क्षमा की प्रार्थना करते हैं।

जाति का सेवक,

उदयलाल जैन

काशलीवाल।

मेरा वक्तव्य.

पाठक ! पुस्तक के लिखने से पहले कुछ अपनी कथा भी कह डालूं जिससे आप लोगों को पुस्तक के बनाने का कारण मालूम हो जावे । बात यह है कि—

पक्षपात में पड़ रहे जे नर मति के हीन ।
ज्ञानवन्त निष्पक्ष गहि करें कर्म को छीन ॥

यह प्राचीन नीति है । इसी का अनुकरण जिन्होंने किया है वे लोक में पूज्य दृष्टि से देखे जाने लगे हैं । परन्तु आज वह समय नहीं रहा । इस समय में तो जिसने इस नीति का जरा सा भी भाग पकड़ा कि वह रसातल में ढकेला गया । कुछ पुराने इतिहास के ऊपर दृष्टि के लगाने से इस विषय के सम्बन्ध में महाराज विभीषण, विद्यानन्द स्वामी आदि महात्माओं के अनेक उदाहरण ऐसे मिलेंगे कि जिन्होंने खोटे काम के करने से अपने सहोदर तक को छोड़ दिया । जिन्होंने अपने हित के लिये अपने कुल तक को तिलाञ्जली दे दी। आज उन्हें कोई बुरा बतावे तो उनकी अत्यन्त मूर्खता कहनी चाहिये। ऊपर की नीति का भी यही आशय है कि चाहे हमारा जन्म कहीं भी हुआ हो, हमारा धर्म कुछ भी क्यों न हो यदि वह प्राचीन लोगों के अनुसार आत्महित का साधक न हो तो उसे छोड़ देना चाहिये । बुरी बात के छोड़ने में कोई हर्ज नहीं कहा जा सकता ।

. यही दशा मेरी भी हुई है मैं पहले उसी मार्ग का अनुयायी था जिस में गन्ध लेपनादि विषयों का निषेध है। और इसी पर बिश्वास भी था। परन्तु समाज में दो सम्प्रदायों को देखकर छोटी अवस्था से ही यह बुद्धि रहती थी कि यथार्थ बात क्या है? इसी के अनुसार सत्य बात के निर्णय के लिये यथा सामर्थ्य प्रयत्न भी करता रहा। इसी अवसर में जैनमित्र में पञ्चामृताभिषेक विषय पर शास्त्रार्थ चल पड़ा। उसी में यह बात भी किसी विद्वान के लेख में देखने में आई कि " भगवत्सोमदेव महाराज ने यशस्तिलक में इस विषय को अच्छी तरह लिखा है जो विक्रम सम्मत (८२१) के समय में इस आरत भारत के तिलक हुवे हैं। इस बात के देखने से उसी समय दिल में यह बात समागई कि उक्त ग्रन्थ को देखना चाहिये क्योंकि इसके कर्त्ता प्राचीन हैं और यह उस समय में बना हुआ है जिस समय भट्टारकादिकों की चर्चा का शेष भी नहीं था। यदि इस ग्रन्थ में यह बात मिल जावेगी तो अवश्य उसी के अनुसार अपने श्रद्धान को काम में लाना चाहिये।

इस तरह का निश्चय कर लिया था। परन्तु उस समय यह कंटक आकर उपस्थित हुआ कि इस ग्रन्थ को कैसे प्राप्त करना चाहिये। न उस वक्त उक्त ग्रन्थ मुद्रित ही हो चुका था जो झटिति मंगाकर चित्त की शान्ति कर ली जाती। इसी से सब उपायों को छोड़ कर सन्तोषाचल की कन्दरा का आश्रय लेना पड़ा था। किसी समय मैं अपने मकान पर किसी काम को कर रहा था उन्ही दिनों में मेरे मकान के पास के जिनालय में कितने मित्रवर्ग प्राचीन पुस्तकालय की सम्हाल कर रहे थे। इसी अवसर में अपने जनमान्तर के शुभ कर्म के उदय से

कहो अथवा आगामी भला होने का चिन्ह कहो जो उसी जिन भारती भवन में "श्री यशस्तिलक" के भी दर्शन दिखाई पड़े। मित्र महोदय ने मुझे भी बुलाकर ग्रन्थराज के दर्शन कराये। बहुत दिनों की मुरझाई हुई आशालताओं के सिञ्चन करने का मौका भी मिल गया। उसी समय ग्रन्थराज के उसी प्रकरण को निकाल कर नयन पथ में लाया लाते ही मुरझाई हुई आशा वल्लरियें हृदयानन्द जल के सम्बन्ध को पाते ही हरी भरी होगई। उसी समय अन्तरात्मा ने भी कह दिया कि यदि तुम्हें अपने भावी कल्याण के करने की इच्छा है आत्मा को नरकों के दुःखों से अछूता रखना चाहते हो तो इसी ग्रंथ शिरोमणि की सेवा स्वीकार करो। बस! उसी दिन से प्राचीन विषयों पर दिनों दिन श्रद्धान बढ़ने लगा। पश्चात् और भी अनेक महर्षियों के ग्रन्थों में भी ये विषय देखने में आये। इसी कारण एक दिन यह इच्छा हुई कि किसी तरह इन प्राचीन विषयों को प्रकाशित करना चाहिये जिससे लोगों को यह मालूम हो जाय कि जैनमत में जितनी बातें हैं वे निर्दोष हैं। इसी अभिप्राय से इस पुस्तक को लिखी है। बस यही मेरी कथा और पुस्तक के अवतरण का कारण है।

पाठकवृन्द! अब आप ही अपनी निष्पक्ष बुद्धि से यह बात मुझे समझा दें कि मैंने प्राचीन मुनियों के कथनानुसार अपने श्रद्धान को पलटा उसमें क्या बुरा काम किया? और यदि सत्य बात के स्वीकार करने को भी बुरा समझ लिया जाय तो क्यों लोगों को बुरे कामों के छोड़ने का उपदेश दिया जाता है? शास्त्रों मे महाराज विभीषण को क्यों श्लाघनीय बताये? एक तरह से तो इन्हें कुल को रसातल में पहुचाने के प्रधान कारण

कहना चाहिये। खेद ! क्या कोई इस बात को उचित कह सकेगा कि महाराज विभीषण ने यह अच्छा काम नहीं किया ? मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि लोगों में इतनी समझ के होने पर भी मेरे विषय में उनके "पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्द्धनम् " इत्यादि असह्य उद्गार निकलते हैं। ये उद्गार उन लोगों के हैं जिन्हे मेरा भ्रम इष्टजन की तरह समझता था परन्तु आज वह आशा निराशा होकर असह्य कष्ट देने लगी है। इसलिये मुझे भी एक नीति का श्लोक लिखना पड़ता है कि-

दुर्जनः परिहर्त्तव्यो गुणोनालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥

वे इष्ट होने पर भी असत्कल्पनाओं के सम्बन्ध से ऊपर की तरह दूर करने के योग्य हैं। लोगों को चाहिये कि जिसमें अपनी आत्मा का हित होता हो उसी को ग्रहण करें। किसी के कहने में अपने आत्मा को न फसावें क्योंकि आज कल अच्छी बात के कहने वाले बहुत थोड़े हैं "दुर्लभाः सदुपदेष्टारः" परन्तु वह विषय शास्त्रानुसार होना चाहिये। कोई कुछ क्यों न कहे उसका कुछ भी डर नहीं है और न उन लोगों के कहने से अपने आत्मा को ठग सकता हूं। उन के कहने से मेरा तो कुछ नहीं विगड़ने का किन्तु वे अपनी आत्मा का अवश्य बुरा कर लेंगे।

पाठक ! मनुष्यों को हर समय में निष्पक्ष होना चाहिये यही कारण है कि "विद्यानन्द स्वामी ने अपनी निष्पक्षता के परिचय में केवल जैनग्रन्थ के श्रवण मात्र से अपने जैनी होने का निश्चय कर लिया था। उसी के अनुसार हमें भी सत्पथ के लिये कार्यक्षेत्र में उतरना चाहिये। यही तो सत्कुल और सद्धम

के पाने का फल है। इतः पर भी बुद्धि को पक्षपात कर्दम से बाहिर न की जाय तो उसके समान और क्या दौभार्ग्य कहा जा सकेगा ? यह आप ही विचारें। इसी अभिप्राय से एक नीति वेत्ता ने अपना आशय लिखा है कि:—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

इसलिये हम उन लोगों से भी सविनय प्रार्थना करते हैं कि आप भी कुछ देर के लिये पक्षपात का सहारा छोड़कर एक वक्त प्राचीन मुनियों के कथन पर तथा उनके इतिहासों पर ध्यान को दौड़ाईये जिससे ठीक २ बातों का पता लग जावे। अब वह समय नहीं है कि लोग उसी अज्ञानान्धकार में अपनी जीवन यात्रा का निर्वाह करते रहेंगे। किन्तु संस्कृत देवी के अथवा यों कहो कि प्राचीन विद्या के प्रसार का समय है। इसलिये लोग शीघ्र ही अपने सत्यार्थ मार्ग के प्राप्त करने में साधक होंगे। यही प्रार्थना जिन भगवान के पादमूल में भी करते हैं कि करुणानिधे ! इस निराश्रय जाति का उद्धार करो ! जिस से फिर भी अपनी अलौकिक वृत्ति को यह संसार भर में बताने लगे।

——:०:——

एक मित्र महोदय के प्रश्न
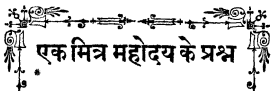
इस ग्रन्थ की प्रथमावृत्ति के प्रकाशित होने पर कितने महानुभावों ने इसे ध्यान से देखा है और याथातथ्य लाभ भी उठाया है। इस से हम अपने पुरुषार्थ को किसी अंश में अच्छा ही समझते हैं और साथ ही उन लोगों के अत्यन्त आभारी हैं जिन्हों ने इस छोटी सी पुस्तक से लाभ उठाकर हमारे परिश्रम को सार्थक बनाने की चेष्टा की है। हमें यह आशा नहीं थी कि इस नवीन पुस्तक को समाज इतनी आदर की दृष्टि से देखैगा परन्तु परमात्मा की दयादृष्टि से एक तरह हमारा मनोरथ पूर्ण हुआ ही। यही कारण है कि आज हमारा रोम २ विकासित हो रहा है और उत्साह की मात्रा द्विगुणित होती जाती है। इस ग्रन्थ के अवलोकन करने का हमारे एक मित्र महोदय को भी मौका मिला है। उन्होंने इस पुस्तक के लेख पर सन्तोष प्रगट करते हुवे साथ ही कुछ और भी प्रश्नों को लिख कर हमारे ऊपर दयादृष्टि की है। वे प्रश्न प्रायः इसी ग्रन्थ से सम्बन्ध रखते हैं। उन्हें सर्वोपयोगी होने से पृथक् उत्तर न देकर इसी पुस्तक में प्रकाशित किये देते हैं। मित्र महोदय उत्तर को देख कर अपने सन्देह के दूर करने का प्रयत्न करेंगे ऐसी मेरी प्रार्थना है। इसी जगह यह भी प्रगट कर देना अनुचित न होगा कि यदि किसी सज्जन महाशय को इस पुस्तक के देखने पर जो कुछ सन्देह हो तो वे उसे मेरे पास भेजने की अनुग्रह बुद्धि करेंगे। ऐसे पुरुषों का अत्यन्त आभार

मानूंगा और जहांतक हो सकेगा अपनी मन्द बुद्धि के माफिक उनके चित्त को शान्त करने का भी शक्ति भर प्रयत्न करता रहूंगा।

प्रश्न ये हैं—

(१) नैवेद्य में कच्ची सामग्री का चढ़ाना मेरी समझ में ठीक नहीं है । गृहस्थों के लिये ही जब घर बाहर की रसोई अयोग्य हो जाती है तब उसे पूजन में चढ़ाना कैसे ठीक होगा ?

(२) दीपक पूजन मे कितने लोगों का मत नारियल की गिरी को केशर के रंग में रंगकर चढ़ाने का है वह किसी तरह ठीक भी कहा जाय तो कुछ हानि नही दीखती। क्योंकि जब साक्षात्परमात्मा का भी हमें पाषाणादिकों में संकल्प करना पड़ता है तब इस छोटी सी बात में हानि क्या है ?

(३) हरित फलों का चढ़ाना ठीक नहीं है ?

(४) दीपक की तरह चावलों को रंग कर पुष्पों की कल्पना करने में भी मेरी समझ में हानि मालूम नही देती ?

(५) बैठ कर पूजन करने से खड़े होकर पूजन करना बहुत कुछ योग्य और विनय का सूचक है । जब साधारण राजा महाराजाओं की भी सेवा करने के लिये खड़ा रहना पड़ता है तब त्रैलोक्य नाथ के बराबर बैठ कर पूजन करना कितना अनुचित है ?

(६) जो परिणामों की विशुद्धता सन्मुख पूजन करने से हो

सकेगी वह विदिशाओं में पूजन करने से नहीं हो सकती। इसी लिये समवसरण में इन्द्रादिदेव भगवान् के सन्मुख रहकर पूजनादिक करते हैं फिर यदि हम लोग भी उन्हीं का अनुकरण करें तो क्या हानि है ?

(७) रात्रि के समय भगवान की पूजन करने को ठीक कहते हो क्या ? यह तो जिन धर्म में प्रत्यक्ष दोषास्पद है। जिन धर्म का सिद्धान्त "अहिंसा परमो धर्मः" है और रात्रि में पूजन करने वालों को इसका बिचार रह सकेगा क्या ?

(८) जैनशास्त्र जिन भगवान को छोड़ कर अन्य देवी देवताओं को मिथ्यात्वी बतलाते हैं और साथ ही उनके पूजन विधानादिकों का निषेध करते हैं। फिर अन्यत्र तो दूर रहा किन्तु खास जिन मन्दिर में जिन भगवान के समीप पद्मावती, चक्रेश्वरी, क्षेत्रपाल और मानभद्र आदि की स्थापना और पूजनादिक होना कितना अयोग्य है। अब तुम्हीं इस बात को कहो कि यह मिथ्यात्व है या नहीं ? यदि है तो उसके दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि इसे भी मिथ्यात्व नहीं समझते हो तो कहो इससे भिन्न दूसरा मिथ्यात्व ही क्या है ?

(९) जिन धर्म में श्राद्ध करना योग्य माना है क्या ?

(१०) आचमन और तर्पण का विधान तो ब्राह्मण लोगों में सुना है और उन्हें ही करते देखा है। परन्तु कहते हैं कि जैन धर्म में भी ये बातें पाई जाती हैं फिर यह ध्यान

में नहीं आता कि जैनधर्म का पृथक पना कैसे जाना जा सकेगा ?

(११) गोमय से शुद्धि मानना ठीक नहीं है। मैं यह नहीं समझता कि पञ्चेन्द्रियों के पुरीष में भी पवित्रता और अपवित्रता होती है ?

(१२) मुंडन करवाना ब्राह्मण लोगों का कर्म है उसे जिनमत से अविरुद्ध बतलाना सरासर अन्याय है ?

(१३) भादों शुक्ल चतुर्दशी के दिन कितने लोग तो जल के कलश को द्रव्य के द्वारा न्योछावर करते हैं और कितने भगवान के चरणों पर चढ़ी हुई पुष्पमाला को करते हैं मेरी समझ के अनुसार पहले वालों की कल्पना ठीक है क्योंकि पुष्पमाला तो एक तरह निर्माल्य हो जाती है और निर्माल्य के ग्रहण का कितना पाप होता है इसे तुम जानते ही हो।

(१४) गृहस्थों के लिये सिद्धान्त पुस्तकों का अध्ययन मना है इस में आप की क्या सम्मति है ? यह बात समझ में नहीं आती। और फिर यदि ऐसा ही था तो इस विषय के ग्रन्थ ही क्यों रचे गये वे किनके काम में आवेंगे ?

(१५) कन्या, हाथी, घोड़ा और सुवर्ण आदि पदार्थों के दान देने का जैन ग्रथों में स्थल २ पर निषेध है। परन्तु मैंने कितने अच्छे २ विद्वानों के मुख से यह कहते सुना है कि इन पदार्थों के दान देने में कोई हानि की बात नहीं है। यह आश्चर्य कैसा ?

इस प्रकार ये पन्द्रह प्रश्न किये हैं। पाठक! हम अपनी मन्द बुद्धि के अनुसार जितना कुछ हो सकेगा उतना उत्तर तो शास्त्रानुकूल लिखे ही देते है। अत पर भी यदि कुछ त्रुटि रह जाय अथवा आपके समझ म न आवे तो विशेष बुद्धिमानो से निर्णय करना चाहिये। क्योकि—"सर्व सर्वं नहि जानाति" यही प्रार्थना मित्र महादय से भी है।

ग्रन्थकार—
उदयलाल जैन
काशलीवाल.

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

संशयतिमिरप्रदीप

॥ मङ्गलाचरण ॥

(१)

शरद् निशाकर कान्ति सम विशद् कान्ति जिन देह ।
चन्द्रप्रभु जिनदेव के पद नमु धर मन नेह ॥

(२)

इन्द्र साधु जनवृन्द कर वन्दित चरण त्रिकाल ।
जगजन चिर सञ्चित कलिल शमन करहु मुनिपाल ॥

(३)

तुमगुण जलधि गँभीर अति मुनिपति भी तिहिं पार ।
लगै न तो पर का कथा जे जन विगत विचार ॥

(४)

अशरण शरण दयाल चित हे जिन तुम मुख चन्द ।
जगमिथ्यासन्ताप को शीतल करहु अमन्द ॥

(५)

तुव यशलता सुहावनी भविजन मन अभिराम ।
कुमतितापसन्तप्त पर करहु छाय सुख धाम ॥

(६)

कलिघनपङ्कनिमग्नजन तिनहिं निकाशन शूर ।
प्रभु तुव चरण सरोज विन नहिं समरथ बलपूर ॥

(७)

चिर उपचित अघविधि विवश आवहिं विघन प्रचण्ड ।
हे कृपालु शिशु "उदय" पर ईश करहु शतखंड ॥

(८)

तुम प्रभाव इह अल्प अति पुस्तक लिखुँ जन हेतु ।
सो दुलंघ भवजलधि महिं बनो सुदृढ़ सुख सेतु ॥

महर्षियों का उद्देश ।

यदि कहा जाय कि गृहस्थों के लिये आचार्यों का जितना उद्देश है वह प्रायः अशुभकार्यों की ओर से परिणामों को हटा कर जहां तक होसके शुभ कार्यों की ओर लगाने का है। ऐसा कहना किसी प्रकार अनुचित न होगा। इस बात को सब कोई जानते हैं कि गृहस्थों को दिन रात अपने संसारीक कामों में फँसा रहना पड़ता है। उन्हें अपने किये हुये पाप

कर्मों की निर्जरा करने के लिये दिन भर में अच्छी तरह से एक घंटा भी मिलना कठिन हो ऐसी अवस्था में उन्हें संसार के छोड़ने का उपदेश देना एक तरह से कार्यकारी नहीं कहा जा सकता। इस कहने का यह मतलब नहीं समझना चाहिये कि उन लोगों को संसार के छोड़ने की उत्कट इच्छा रहते हुये भी निषेध हो? नहीं, किन्तु जो लोग सर्वतया संसार में फँसे हुये हैं जिन्हें उसकी ओर से एक मिनट के लिये भी चसकना दुश्वार है उन्हीं लोगों के बाबत यह कहना है। हां यह माना जा सकता है कि उन लोगों के लिये संसार का निरास करना बेशक कठिन है परन्तु इस का यह अर्थ नहीं कहा जा सकता कि ऐसे लोग दिन भर में एक घंटा भी धर्मकार्य में नहीं लगा सकते हों। और जिन लोगों का दिल संसार सम्बन्धी विषयादिकों से बिलकुल विरक्त हो गया है उन लोगों के लिये किसी तरह का प्रतिबन्ध भी नहीं है कि वे इतनी अवस्था के सुधरने पर ही संसार के छोड़ने का प्रयत्न करें। किन्तु उनकी इच्छा के अनुसार ऐसे लोगों के लिये सदा ही बन का रास्ता खुला रहता है। परन्तु महर्षियों को तो इन लोगों का भी भला करना इष्ट है जिन्हें संसार से छुट्टी पाने का मौका मिलना कठिन है। यही कारण है कि आचार्यों ने गृहस्थों के लिये सब से पहले कल्याण का मार्ग जिन भगवान की पूजन करना बताया है। भगवान की पूजन करने वालों का चित्त जब तक पूजन की ओर लगा रहता है तब तक वे संसार सम्बन्धी बातों से अवश्य पृथक रहते हैं। इसका अनुभव उन लोगों को अच्छी तरह से है जिन्हें जिन देव की सेवा के करने का समय मिला है।

पूजन के भी द्रव्यपूजन और भावपूजन ऐसे दो विकल्प हैं। उसमें आज यहां पर भावपूजन के विषय को गौण करके द्रव्यपूजन के विषय पर मीमांसा करेंगे। वैसे तो पूजन अनेक तरह और अनेक द्रव्यों से हो सकती है परन्तु मुख्यत: जलादि आठ द्रव्यों से करने का उपदेश है। काल के परिवर्तन से जैनियों में प्राचीन सस्कृत विद्या की कमी हो गई इसी कारण कितनी क्रियाओं में फेरफार हो गया है। इसीलिये आज इस विषय के लिखने की जरूरत पड़ी है। हम इस लेख में क्रम से इस विषय का परिचय करावेंगे कि वर्तमान में किन २ क्रियाओं में अन्तर हो गया है जिन का पुनरुद्धार होने से जिन मत के यथार्थ उपदेश का पालन हो सकेगा।

पञ्चामृताभिषेक ।

पञ्चामृताभिषेक को सशास्त्र होने पर भी कितने लोगों का मत एक नहीं मिलता। कितनों का कहना है कि पञ्चामृताभिषेक के करने से जलाभिषेक की अपेक्षा कुछ अधिक लाभ संभव होता तो ठीक भी था परन्तु यह न देख कर उल्टी हानि की संभावना देखी जाती है। इसलिये पञ्चामृताभिषेक योग्य नहीं है।

पञ्चामृताभिषेक में इक्षुरसादि मधुर वस्तुएं भी मिली रहती हैं और जब उन्हीं मधुर वस्तुओं से जिन प्रतिमाओं का अभिषेक किया जायगा फिर यह कैसे नहीं कहा जा सकता कि मधुर पदार्थों के संसर्ग से जीवों की उत्पत्ति न होगी?

कदाचित् कहो कि अन्त में जलाभिषेक के होने से उक्त दोष की निवृत्ति हो सकेगी ? परन्तु तो भी यह संभव नहीं होता कि घृतादिकों की सचिक्कणता तत्काल जल से दूर हो जायगी। इत्यादि

केवल इसी युक्ति के आधार पर पञ्चामृताभिषेक के निषेध करने की कोई ठीक नहीं कह सकता। यह युक्ति तो तभी ठीक कही जाती जब पञ्चामृताभिषेक करने वाले इक्षुरसादिकों से अभिषेक करके ही अभिषेक कर्म की समाप्ति कर देते। सो तो कहीं पर भी देखा नहीं जाता। अब रही सचिक्कणता की, सो इसका समाधान भी हो सकता है। ग्रन्थकारों ने जहां इक्षुरसादिकों से अभिषेक करना लिखा है वहीं पर नाना प्रकार के वृक्षादिकों के रसों तथा दधि आदि आम्ल पदार्थों से भी करना लिख दिया है और जहां तक मैं खयाल करता हूं उपर्युक्त वस्तुओं से अभिषेक करने का यही आशय है कि प्रतिमाओं पर सचिक्कणता अथवा मधुर पदार्थों का संसर्ग न रहने पावे। इस विषय का विशेष खुलासा इन्द्रनन्दि पूजासार में देख सकते हैं।

पञ्चामृताभिषेक का न तो पहली युक्ति के आधार पर निषेध हो सकता है और न दूसरी युक्ति के द्वारा करना सिद्ध होता है। क्योंकि ये दोनों ही युक्तियें निराधार हैं। ये तो जिस तरह निषेध की कल्पना है उसी तरह उसका समाधान है। किसी बात के निषेध अथवा विधान में केवल युक्तियों की प्रबलता ठीक नहीं कही जा सकती। युक्ति के साथ कुछ शास्त्र प्रमाण भी होने चाहिये। यदि केवल युक्तियों को आधार पर विश्वास करके शास्त्रों के प्रचार का बिल्कुल निषेध कर दिया

होता तो, आज सम्पूर्ण मत मतान्तर कभी के रसातल में पहुंच गये होते। परन्तु यह कब संभव हो सकता था ? इसी से हमारा कहना है कि पहले शास्त्रों का आश्रय लेना चाहिये। और शक्ति भर विविध युक्तियों के द्वारा उन्हीं के पुष्ट करने का उपाय करते रहना चाहिये। क्योंकि प्राचीन तत्त्व ज्ञानियों का अनुभव सत्य और यथार्थ कल्याण का कारण है। हम भी आज प्रकृत विषय को पहले शास्त्रों के द्वारा खुलासा करते हैं। फिर यथानुरूप युक्तियों के द्वारा भी सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे।

भगवान् उमास्वामि श्रावकाचार में—

शुद्धतोयेक्षुसर्पिर्भिर्दुग्धदध्याम्रजै रसैः।
सर्वौषधिभिरुच्चूर्णैर्भावात्संस्नापये जिनान् ॥

अर्थात्—शुद्धजल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, आम्ररस और सर्वौषधि इत्यादिकों से जिनभगवान् का अभिषेक करता हूं।

श्रीवसुनन्दि श्रावकाचार में—

गाथा—

गब्भावयारजम्माहिसेयणिक्खवणणाणणिव्वाणं।
जम्हि दिणे संजादयं जिणण्हवणं तद्दिणे कुज्जा ॥
इक्खुरससप्पिदहिखीरगंधजलपुण्णविविहकलसेहिं।
णिसि जागरं च संगीयणाडयाइहिं कायव्वं ॥
णन्दीसरअठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु।
जंकीरइ जिणमहिमा वण्णेया कालपूजा सा ॥

अर्थात्—जिस दिन भगवान् के गर्भावतार, जन्माभिषेक, दीक्षाकल्याण, ज्ञानकल्याण और मोक्षकल्याण हुवे हों उस दिन इक्षुरस, घो, दही, दूध और गन्धजल इत्यादिकों से भरे हुवे कलसों से अभिषेक करने को, रात्रि में जागरण तथा संगीत नाटकादि करने को, तथा इसी तरह दसलाक्षण, षोडषकारण और रत्नत्रयादि योग्य पर्वों में अभिषेकादि करने को काल पूजा कहते हैं।

श्रीवामदेव भावसंग्रह में कहते हैं कि—

ततः कुम्भं समुद्धार्य तोयचोचेक्षुसद्रसैः।
सद्घृतैश्च ततो दुग्धैर्दधिभिः स्नापये जिनम्॥

अर्थात्—पश्चात् कलशोद्धार पूर्वक जिन भगवान् का इक्षुरस, आम्ररस, घी, दूध और दही से अभिषेक करता हूं।

श्रीयोगीन्द्रदेव श्रावकाचार में लिखते हैं कि—

जोजिणुण्हावइ घयपयहिं सुरहिं ण्हाविज्जइ सोइ।

सो पावइ जोजंकरइ पहुपसिद्धउ लोए॥

अर्थात्—जो जिन भगवान् का घी और दूध से स्नान अर्थात् अभिषेक करते हैं वे देवताओं के द्वारा स्नान कराये जाते हैं। इसे सब कोई स्वीकार करेंगे कि जो जैसा कर्म करते हैं वे वैसाही उसका फल भी पाते हैं।

श्रीयशस्तिलक महाकाव्य के अष्टमोछ्वास में लिखा है कि—

द्राक्षाखर्जूरचोचेक्षुप्राचीनामलकोद्भवैः।

राजादनाम्रपूगोत्थैः स्नापयामि जिनं रसैः ॥

अर्थात्—दाख, खजूर, और इक्षुरसादिकों के रस से जिन भगवान् का अभिषेक करता हूं।

श्रीचन्द्रप्रभु चरित्र में विद्वद्वर दामोदर उपदेश देते हैं कि-

अभिषेकं जिनेन्द्राणामिक्षुःसलिलधारया ।
यः करोति सुरेस्तेन लभ्यते स सुरालये ॥
जिनाभिषिञ्चनं कृत्वा भक्त्या घृतघटैर्नरः ।
प्रभायुक्तविमानस्थ जायते नायकः सुरः ॥
संस्नापयेज्जिनान्यस्तु सुदुग्धकलशैर्जिधा ।
क्षीरशुभ्रविमाने स प्राप्नोति भोगसम्पदम् ॥
येनार्हन्तोऽभिषिच्यन्ते पीनदधिघटैः शुभैः ।
दधितुल्यविमाने स क्रीडयति निरन्तरम् ॥
सर्वौषध्या जिनेन्द्राङ्गं विलेपयति यो नरः ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तं प्राप्नोत्यङ्गं भव भवे ॥

अर्थात्—जो जिन भगवान् का इक्षुरस की धारा से अभिषेक करता है वह अभिषेक के फल से स्वर्ग को प्राप्त होता है। घृत के कलशों से जिन भगवान् का अभिषेक करने वाला स्वर्ग में देवताओं का स्वामी होता है। जो दूध के भरे हुवे कलशों से जिन भगवान् को स्नान कराता है वह दूध के समान शुभ्र विमान में विविध प्रकार की भोगोपभोग सामग्री को भोगने वाला होता है। जिस ने जिन देवका बहुत गाढ़े दही के भरे हुवे कलशों से अभिषेक किया है उसे दधि के समान निर्मल विमान में क्रीड़ा करने का सुख उपलब्ध होता है।

जो पुरुष सर्वौषधि से जिन भगवान के शरीर में लेपन करता है उसके लिये ग्रन्थकार कहते हैं कि वह जन्मजन्म में सम्पूर्ण रोगों से रहित शरीर को धारण करता है।

भगवान्कुन्दकुन्दाचार्यकृत षट्पाहुड़ ग्रंथ की श्रुतसागरी वृत्ति में लिखा है कि—

तथाचकारात्पाषाणघटितस्यापि जिनबिम्बस्य पञ्चामृतैः, स्नपनं, अष्टविधैः पूजाद्रव्यैश्च पूजनं कुरुत यूयं, वन्दनाभक्तिश्च कुरुत। यदि तथा भूतं जिनबिम्बं न मानयिष्यथ गृहस्था अपि सन्तस्तदा कुम्भीपाकादिनरकादौ पतिष्यथ यूयमिति।

अर्थात् यहां पर वैयावृत्य का प्रकरण है। इसमें चकार से पाषाण की जिन प्रतिमा का पञ्चामृत करके अभिषेक और अष्टप्रकार पूजन द्रव्यों से पूजन करो। तथा वन्दना भक्ति भी करो। जो इस प्रकार की जिन प्रतिमाओं को स्वीकार नहीं करोगे तो गृहस्थ होते हुये भी कुम्भीपाकादि नरकों में पड़ोगे।

श्री धर्मसंग्रह में:—

गर्भादिपञ्चकल्याणमर्हतां यद्दिनेऽभवत्
तथा नन्दिश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चार्चताम्।
स्नपनं क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभिः
तत्र गीतादिमांगल्यं कालपूजा भवेदियम्।

अर्थात्—जिस दिन अर्हन्त भगवान् के गर्भादि पञ्चकल्याण हुये हैं उसदिन नन्दीश्वर पर्व के दिन तथा रत्नत्रयादि पर्वों में इक्षुरस और घृतादिकों से अभिषेक तथा संगीत आभरणादि शुभ कार्यों के करने को काल पूजन कहते हैं।

श्रीपाल चरित्र में लिखा है कि:—

कृत्वा पञ्चामृतैर्नित्यमभिषेकं जिनेशिनाम्
ये भव्याः पूजयन्त्युच्चैस्ते पूज्यन्ते सुरादिभिः ।

अर्थात् पञ्चामृत से जिन भगवान् का अभिषेक करके जो भव्यपुरुष पूजन करते हैं उन्हें देवता लोग निरन्तर उपासना की दृष्टि से देखते रहते हैं ।

श्री मूलसंघाम्नायो हरिवंश पुराण में:—

पञ्चामृतैर्भृतैः कुम्भैर्गन्धोदकवरैः शुभैः ।
संस्नाप्य जिनसन्मूर्तिं विधिनाऽऽनर्चुरुत्तमाः ॥

अर्थात् – इक्षुरसादि पञ्चामृतों से भरे हुये कलशों से जिन भगवान् का अभिषेक करके पूजन करते हुवे ।

षट्कर्म्मोपदेश रत्नमाला में:—

पञ्चामृतैः सुमंत्रेण मंत्रितैर्भक्तिनिर्भरः
अभिषिच्य जिनेन्द्राणां प्रतिबिम्बानि पुण्यवान् ।

अर्थात् – पवित्र मंत्र पूर्वक, इक्षुरसादि पञ्चामृतों से जिन भगवान् का अभिषेक करना चाहिये । इत्यादि अनेक प्राचीन शास्त्रों में पञ्चामृताभिषेक के सम्बन्ध में लिखा हुआ मिलता है इसलिये शास्त्रानुसार बाधित नहीं कहा जा सकता ।

प्रश्न – यद्यपि शास्त्रों में पञ्चामृताभिषेक करना लिखा है परन्तु साथही जरा बुद्धि पर भी जोर देना चाहिये । इस बात

को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि जिनधर्म वीतरागता का अभिवर्द्धक है। और जब जिन प्रतिमाओं पर इक्षुरसादिकों से अभिषेक किया जायगा फिर उस समय वीतरागता ठीक बनी रहेगी क्या ?

उत्तर-जिनधर्म वीतरागता का अभिवर्द्धक है इसे हम भी स्वीकार करते हैं परन्तु इस से पञ्चामृताभिषेक का निषेध कैसे हो सकेगा? इस बात को खुलासा करना चाहिये। पञ्चामृताभिषेक वीतरागता का क्यों प्रतिरोधक है ? मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि पञ्चामृताभिषेक में ऐसा कौन सा कारण है जिससे जिन धर्म का उद्देश हो नष्ट हुआ जाता है। फिर तो यों कहना चाहिये कि यह एक तरह बाल क्रीड़ा हुई कि पञ्चामृताभिषेक के नहीं करने से तो जिन धर्म का उद्देश बना रहता है और करने से नष्ट हो जाता है। तो फिर जला भिषेक मानने वालों को यह दोष बाधा नहीं देगा क्या ? पञ्चामृताभिषेक के निषेध के लिये दो कारण कहे जा सकते हैं—

(१) तीर्थंकरों का समवशरण में अभिषेक नहीं होता इसलिये प्रतिमाओं का भी नहीं होना चाहिये।

(२) पञ्चामृताभिषेक सरागता का द्योतक है इसलिये योग्य नहीं है।

परन्तु ये दोनों हो कारण बाधित हैं। समवशरण में अभिषेक के न होने से प्रतिमाओं पर अभिषेक करना असिद्ध

नहीं ठहर सकता। क्योंकि समवशरण में तो जलाभिषेक भी नहीं होता फिर प्रतिमाओं पर भी निषेध स्वीकार करना पड़ेगा। पञ्चामृताभिषेक को सरागता का कारण भी नहीं मान सकते। क्योंकि जब जिन मंदिर बंधवाना, रथयात्रा निकलवाना, प्रतिष्ठादि करवानी आदि कार्य सरागता के कारण नहीं हैं फिर पञ्चामृताभिषेक ही क्यों! जिस तरह ये सरागता के पूर्णतया कारण होने पर भी प्रभावना के कारण माने जाते हैं उसी तरह पञ्चामृताभिषेक को मानने में जिन मत के उद्देश को किसी तरह बाधा नहीं पहुंच सकती। अभिषेक सम्बन्ध में श्री सोमदेव स्वामी के वाक्यों को देखिये-

श्री केतनं वाग्वनितानिवासं पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम्।
स्वर्गापवर्गं गमनैकहेतुं जिनाभिषेकं श्रयमाश्रयामि ॥

प्रश्न — मूलाचार प्रभृति ग्रन्थों में साधु पुरुषों के लिये गन्धजल से शरीर संस्कारादिकों का भी निषेध है तो प्रतिमाओं पर पञ्चामृताभिषेक कैसे सिद्ध हो सकेगा? क्योंकि प्रतिमा भी तो पञ्चपरमेष्ठी की है।

उत्तर-प्रतिमाओं और मुनियों के वचन की समानता नहीं होती। इतने पर भी यदि पञ्चामृताभिषेक अनुचित समझा जाय तो, मुनियों के स्नान का त्याग है फिर प्रतिमाओं पर अभिषेक क्योंकर सिद्ध हो सकेगा? यदि कहो कि मुनियों को अस्पर्श शूद्रादिकों का स्पर्श होने पर मंत्रस्नान लिखा है तो क्या प्रतिमाओं को भी प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़ती है जो तुम्हारे

कथनानुसार अभिषेक कराना मानाजाय। मुनियों के कथन को प्रतिमाओं के कथन से मिलाकर एक शुद्ध और निर्दोष विषय को बाधित करना ठीक नहीं है।

प्रश्न— पञ्चामृत किसे कहते हैं यह भी समझ में नहीं आता? कितने तो पञ्चामृत में मधु को भी मिलाते हैं।

उत्तर-पञ्चामृत के विषय में भट्टाकलंकदेव प्रतिष्ठा तिलक में यों लिखते हैं—

> नीरं तरुरसश्चैव गोरसत्रतीयं तथा।
> पञ्चामृतमिति प्रोक्तं जिनस्नपनकर्मणि॥

अर्थात्—जल, वृक्षों का रस और तीन गोरस अर्थात् दूध, दही और घी इन्हीं पांच वस्तुओं को जिनाभिषेक विधि में पञ्चामृत कहते हैं। जिन शास्त्रों में पञ्चामृत में मधु का ग्रहण नहीं है किन्तु वैष्णव मत में मधु का पञ्चामृत में ग्रहण किया है। जैनशास्त्रों में मधु को अत्यन्त अपवित्र माना है फिर आप ही कहें कि महर्षि लोग इसे पवित्र कैसे कहेंगे?

प्रश्न— पञ्चामृताभिषेक की सामग्री का योग मिलाने से बहुत आरंभ होता है और जिन धर्म का उद्देश आरंभ के कम करने का है।

उत्तर--पहले तो गृहस्थों को आरंभ का त्याग ही नहीं हो सकता। यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय तो, क्या मन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठा करवाना, रथयात्रा निलकवानी इत्यादि कार्यों में आरंभ नहीं होता और

वह पञ्चामृताभिषेक की अपेक्षा कितना है। आरंभ के त्याग का उपदेश तो मुनियों के लिये है। गृहस्थों को आरंभ कम करना चाहिये, नहीं कह सकते यह कहना किस शास्त्र के आधार पर है। अभिषेकादि सम्बन्ध में आरंभ घटाने का उपदेश करने वालों के प्रति श्रीयोगीन्द्र देव कृत श्रावकाचार में लिखा है—

आरंभे जिणण्हाविया सावज्जं भणंति दंसण तेण।
जिमइमलियो इच्छुण कांइओ भंति॥

और भी सारसंग्रह में:—

जिनाभिषेके जिनबिम्बप्रतिष्ठाजिनालये जैनसुपात्रतायाम्
सावद्यलेशो वदते स पापो स निन्दको दर्शनघातकश्च।

तात्पर्य यह है कि अभिषेकादि सम्बन्ध में जो लोग आरंभादि बताकर निषेध करने वाले हैं उन्हें ग्रन्थकारों ने सर्व दोषों का पात्र बनाया है। और है भी ठीक क्योंकि जिसके करने से आत्मकल्याण होता है उसका निषेध कहां तक ठीक कहा जा सकेगा? किन्तु आरंभ किस विषय का कम करना चाहिये उसके लिये धर्म संग्रह में इस तरह लिखा है:—

जिनार्चानेकजन्मोत्थं किल्बिषं हन्ति या कृता।
सा किन्न यजनाचारैर्भवं सावद्यमङ्गिनाम्॥
प्रेरयन्ते यत्र वातेन दन्तिनः पर्वतोपमाः।
तत्राल्पशक्तितेजस्सु दंशकादिषु का कथा॥
भुक्तं स्यात्प्राणनाशाय विषं केवलमङ्गिनाम्।
जीवनाय मरीचादिसदौषधविमिश्रितम्॥

तथा कुटुम्बभोग्यार्थमारम्भः पापकृद्भवेत्।
धर्मकृद्दानपूजादौ हिंसालेशो मतः सदा॥

अर्थात्—जो जिन भगवान् की की हुई पूजा अनेक जन्मों के पापों को नाश करती है क्या वह पूजन के सम्बन्ध से उत्पन्न हुये सावद्य पापों को नाश नहीं करेगी? अरे जहां प्रचण्ड वायु के वेग से पर्वतों के समान हाथी तक उड़ जाते हैं वहां अल्पशक्ति के धारक दंश मशकादि क्षुद्र जीवों की तो कथा ही क्या है? देखो। जिस प्रकार खाया हुआ केवल विष प्राणों के नाश का कारण होता है, परन्तु मरीचादि उत्तम औषधियों के साथ खाया हुआ वही विष जीवन के लिये होता है। इसी प्रकार जो आरंभ कुटुम्ब और भोग के लिये अर्थात् सांसारिक प्रयोजन के लिये किया जाता है, वह पाप के लिये ही होता है। परन्तु धर्म के कारणभूत दान, पूजन, प्रतिष्ठा, अभिषेकादि के लिये जो आरंभ होता है वह निरन्तर हिंसा का लेश माना जाता है और वही आरंभ गृहस्थों के लिये स्वर्गादि सद्गतियों का कारण होता है।

इसी तरह भगवान् समन्तभद्र स्वामी भी वृहत्स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं:—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जिनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥

अर्थात्—जिस तरह समुद्र में पड़ी हुई विषय की कणिका समुद्र के जल को विकार रूप नहीं कर सकती। उसी तरह जिन भगवान् की पूजन करने वाले पुरुषों के बड़े भारी पुण्य

समूह में पूजन के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ किंचित् पाप का लव दोष का कारण नहीं हो सकता।

प्रश्न — पञ्चामृताभिषेक सम्बन्ध के श्लोक शास्त्रों में किसी ने मिला दिये हैं। और पञ्चामृताभिषेकादि सम्बन्ध के ग्रन्थों को भट्टारकों ने प्राचीन महर्षियों के नाम से बनादिये हैं। वास्तव में आचार्यों के नहीं हैं।

उत्तर–यह बात कैसे ठीक मानी जाय कि इस विषय के श्लोकों को किसी ने मिला दिये हैं? क्योंकि परीक्षा प्रधानियों के मतानुसार ऐसा सत्य भी मान लिया जाय तो किसी किसी स्थानों के शास्त्रों में साध्य भी हो सकता है। परन्तु भारतवर्ष मात्र के स्थानों में यह बात संभव नहीं होती और न कोई बुद्धिमान् इसे स्वीकार ही करेगा। पञ्चामृताभिषेक का वर्णन एक शास्त्र में नहीं, दो में नहीं, दश में नहीं, पचास में नहीं सौ में नहीं किन्तु प्रत्येक पूजापाठ, श्रावकाचार, प्रतिष्ठा पाठ, संहिता शास्त्र, त्रैवर्णिकाचार, कथाकोषादि जितने ग्रन्थ हैं उन सब में है। फिर पञ्चामृताभिषेक कैसे अनुचित है यह मालूम नहीं पड़ता। हां एक कारण इसके निषेध का कहा भी जासकता है। वह यह है। अर्थात् जो बात जो विषय अपने अनुकूल हुआ उसे विनय की दृष्टि से देखा और जो ध्यान में नहीं जचा उसे प्राचीन होने पर भी अनुपयोगी समझा। इसको छोड़ कर दूसरा कारण अनुभव में नहीं आता। यदि यह ठीक न होता तो जिस

पद्म पुराण के श्रद्धा पूर्वक पठन पाठन का दिनरात अवसर मिलता है उसी के उस प्रकरण की उपेक्षा क्यों ? जिस जगह पञ्चामृताभिषेक तथा गन्ध लेपनादि-कों का वर्णन है।

तुम्हारे कथनानुसार कदाचित् मान भी लियाजाय कि यह काम भट्टारकों का ही किया हुआ है तो फिर पंडित आशा-धरादि विद्वानों के रचेहुवे शास्त्रों में इससम्बन्ध के लेख नहीं होने चाहिये। क्योंकि भट्टारकों को उत्पत्ति के पहले जैन मत में किसी प्रकार का पाषंड नहीं था। इसे उभय सम्प्रदाय के सज्ज-नाको निर्विवाद स्वीकार करना पड़ेगा। भट्टारकों की उत्पत्ति विक्रमाब्द १३१६ में हुई है और आशाधर १२०० के अनुमान में हुवे हैं। इस लिखने से हमें यह बात सिद्ध करना है कि भट्टारकों सेपहले के महर्षियों तथा विद्वानों के ग्रन्थों में पञ्चामृता भिषेकादि का वर्णन है। इसलिये पञ्चामृताभिषेक अनुचित नहीं कहा जासकता।

प्रश्न--पञ्चामृताभिषेक काष्टासंघ से चला है। मूल संघ में तो केवल जलाभिषेक है।

क्योंकि—आदि पुराण में लिखा है:-

देवेन्द्राः पूजयन्त्युच्चैः क्षीरोदाम्भोभिषेचनैः।

अर्थात्—देवता लोग क्षीर समुद्र के जल से जिन भगवान का अभिषेक करते हैं।

उत्तर--यदि पञ्चामृताभिषेक काष्टासंघ से ही प्रचलित हुआ होता तो उसका विधान मूल संघ के ग्रन्थों में देखने में नहीं आता। परन्तु इसे तो उमास्वामि, वामदेव,

वसुनन्दि, पूज्यपाद, कुन्दकुन्द, योगीन्द्रदेव, अकलंक-देव, सोमदेव, इन्द्रनन्दि और श्रुतसागर मुनि आदि सम्पूर्ण मूल संघाम्नायी महर्षियों ने श्रावकाचार, भावसंग्रह, जैनाभिषेक, षट्पाहुडवृत्ति, प्रायश्चित्त, यशस्तिलक, पूजासार कथाकोषादि शास्त्रों में लिखा है। ये महर्षि मूल संघी नहीं हैं क्या? इस विषय के सिद्ध करने का जो प्रयत्न करेंगे उनका बड़ा भारी उपकार होगा।

आदि पुराण के श्लोक में देवताओं ने जलाभिषेक किया हुआ लिखा है हमभी उसे स्वीकार करते हैं। परन्तु केवल जला भिषेक के करने मात्र से तो पञ्चामृताभिषेक अनुचित नहीं कहा जा सकता। निषेध तो उसी समय स्वीकार किया जा सकेगा जब कि जिस तरह उसका करना सिद्ध होता है उसी तरह निषेध भी हो। और यदि ऐसाही मान लिया जाय तो "देवता लोगों ने पञ्चामृताभिषेक किया" लिखा हुआ है फिर उससे जलाभिषेक का भी निषेध हो सकेगा?

इक्षुरसादिपञ्चामृतैरभिषेकं कृतवन्तः

यह पाठ शुभचन्द्र मुनि के शिष्य पद्मनन्दि मुनि ने नन्दी श्वर द्वीप की कथा में लिखा है। फिर कहो इस विषय के निर्णय के लिये क्या उपाय कहा जा सकेगा? हमारी समझ के अनुसार तो "सर्वेषां लोचनं शास्त्रमिति" इस किंवदन्ती के अनुसार शास्त्रों के द्वारा निर्णय करके उसी के अनुसार चलना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि पञ्चामृताभिषेक सशास्त्र है। उसे स्वीकार करना अनुचित नहीं है। किन्तु स्वर्गादि सुखों का कारण है।

प्रश्न—पञ्चामृताभिषेक के करने से लाभ क्या है ?

उत्तर—जो लाभ जलाभिषेक के करने से होता है वही लाभ पञ्चामृताभिषेक के करने से भी मानने में कोई हानि नहीं है । यह तो भक्तिमार्ग है। इससे जितनी परिणामों की अधिक शुद्धता होगी उतनाही विशेष पुण्यबन्ध होगा । क्योंकि गृहस्थों का धर्म ही दान पूजादिमय है । इन के बिना गृहस्थों को परिणामों के निर्मल करने के लिये दूसरा अवलम्बन नहीं है ।
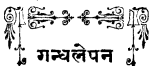
गन्धलेपन

जिस तरह पञ्चामृताभिषेक करना शास्त्रों में लिखा हुआ है । उसी तरह गन्धलेपन अर्थात् जिन भगवान् के चरणों पर केशर का लगाना भी लिखा हुआ है । लिखा हुआ ही नहीं है किन्तु प्रतिष्ठादि क्रियाओं में गन्धलेपनादिकों के बिना प्रतिमाओं में पूज्यता ही नहीं आती । उसी गन्धलेपन के विषय में लोगों का यों कहना है कि :—

देव देव सबही कहें देव न जाने कोय ।
लेपपुष्प अरु कीवड़ा कामीजन के होय ॥
मेटी मुद्रा अवधि सों कुमति कियो कुदेव ।
विघन अंग जिनबिम्ब को तजे समकिती सेव ॥

सारांश यह है कि यद्यपि देवत्व की कल्पना सबही

करते हैं। परन्तु देव के यथार्थ स्वरूप से प्रायः वे अनभिज्ञ हैं। इसलिये जिन लोगों का मत जिन प्रतिमाओं पर गन्धपुष्पादिकों के चढ़ाने का है वह ठीक नहीं है। जिनप्रतिमाओं की वास्तविक छबिको विगाड़ कर दुर्मतियों ने उन्हें कुदेव को तरह बना दी हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टि पुरुषों से हम अनुरोध करते हैं कि जिनप्रतिमाओं के ऊपर गन्धपुष्पादि चढ़े हों उन्हें नमस्कारादि नहीं करना चाहिये॥

इसी तरह और भी असत्कल्पनाओं का व्यूह रचा जाता है। उसमें प्रवेश किये हुवे मनुष्यों का निकलना एक तरह कठिन हो जाता है कठिन हो नहीं किन्तु नितान्त ही असंभव हो जाता है। यही कारण है कि आज विपरीत प्रवृत्तियों के दूर करने के लिये प्राचीन महर्षियों के ग्रन्थों के हजारों प्रमाणों के दिखाये जाने पर भी किसी की उन पर श्रद्धा अथवा भक्ति उत्पन्न नहीं होती। अस्तु। उन ग्रन्थों को चाहे कोई न माने तो, न मानो वे किसी के न मानने से अप्रमाण नहीं हो सकते। परन्तु यह बात उन लोगों को चाहिये कि किसी विषय की समालोचना यदि करनी हो तो, जरा सरल और सीधे शब्दों में करनी चाहिये। कटुक शब्दों में को हुई समालोचना का समाज पर कैसा असर पड़ेगा, यह बात विचारने के योग्य है। लेखक महाशय ने जितनी कड़ी लिखावट जिन प्रतिमाओं के सम्बन्ध में लिखी है उससे भी कहीं अधिक उस सम्प्रदाय के लोगों पर लिखा होती तो हमें इतना दुःख और खेद नहीं होता जितना जिनप्रतिमाओं के सम्बन्ध को लिखावट के देखने से होता है॥

ये दोहे चाहे किसी विद्वान् के बनाये हुए हों अथवा छोटी

बुद्धिवाले के! परन्तु ये प्राचीन नहीं है ऐसा कहने में किसी को हानि भी नहीं है। खैर! प्राचीन न होकर भी यदि शास्त्र विहित होते तो, हमें किसी तरह का विवाद नहीं था। परन्तु केवल प्राचीनशास्त्रों को अपनी की हुई असत्कल्पों से सदोष बताना यह भी अनुचित है। इन दोनों का मतलब अर्थात् यों कहो कि अपने दिलो विचार बुद्धिमानों की दृष्टि में कहां तक प्रमाण भूत हो सकगे? इसे मैं नहीं कह सकता।

लेखक महाशय ने जिनभगवान् के ऊपर गन्धपुष्पादिकों के चढ़ने से उन्हें कामों पुरुष को उपमा दी है यह उनके शास्त्र मात्र का परिचय समझना चाहिये। जरा पाठक विचारें कि महाराज भरत चक्रवर्त्ति के विषय में " भरतजी घरही में वेरागी " यह किम्बदन्ती आज तक चली आती है। परन्तु यदि साथही उनके छानवे हजार अङ्गनाओं आदि ऐश्वर्य के ऊपर भी ध्यान दिया जाय तो, कोई इसतरह का उद्गार नहीं निकाल सकता। और उनके आभ्यन्तरिक पवित्र परिणामों की ओर लक्ष्य देने से यह लोकोक्ति अनुचित भी नहीं कही जा सकती। इतने प्रभूत ऐश्वर्यादिकों के होने पर भी महाराज भरत चक्रवर्त्ति के सम्बन्ध में किसी ग्रन्थकार ने उन्हें यह उपमा नहीं दी कि वे इतने आडम्बर के संग्रह के सम्बन्ध से कामुक हैं। उसी प्रकार गृहस्थ अवस्था में रहते हुवे तीर्थंकर भगवान् को भी किसी ने कामी नहीं लिखा। फिर शास्त्रानुसार किंचित् गन्ध पुष्पादिकों के सम्बन्ध से त्रिभुवन पूजनीय जिनदेव के विषय में इसतरह अश्लील शब्द के प्रयोग को कौन अभिभव को दृष्टि से न देखेगा?

कदाचित् कहो कि यह कहना तो ठीक है परन्तु जो

पहिले कहा गया था कि गन्धपुष्पादिकों के बिना प्रतिमाओं में पूज्यत्व ही नहीं आता । उसी तरह हम भी तो यह कह सकते हैं कि प्रतिष्ठादिकों के समय में तो अलंकारादिकों का भी संसर्ग रहता है तो फिर इस वक्त भी जिन प्रतिमाओं को भूषणादि पहराना चाहिये ॥

किसी विषय का निषेध अथवा विधान हमारे किये नहीं होता । यही कारण है कि आज हम हज़ारो प्राचीन शास्त्रों के प्रमाणों को प्राचीन विषयों के सम्बन्ध में देते हैं तो भी उन्हें कोई स्वीकार नहीं करते । फिर जिस बात का खास हमारे द्वारा विधान होगा उसे तो कब स्वीकार करने के । इसलिये गन्धपुष्पादिकों के चढ़ाने का विधान जब जैनशास्त्रों में लिखा हुआ मिलता है तब ही हमें उसके प्रचार की आवश्यक्ता पड़ी है । और अलंकारादिकों के विषय में आचार्यों का मत नहीं है इसलिये उनका निषेध किया जाता है ॥

लेखक का दूसरा कथन जिन प्रतिमाओं पर यदि गन्ध पुष्पादि चढ़े हों तो, उन प्रतिमाओं को नमस्कार पूजनादि के निषेध में है ॥

परन्तु यह कहना भी निराबाध नहीं है । पहले तो प्रतिष्ठित जिनप्रतिमायें किसी समय में अपूज्य नहीं हो सकती । यदि थोड़ी देर के लिये यही बात मानली जाय तो, उनलोगों के मत से अपूज्य प्रतिमायें फिर पूज्य नहीं होनी चाहिये । और यह कहते हुवे तो हमने बहुतों को देखे हैं कि जब तक गन्ध पुष्पादिक प्रतिमाओं पर चढ़े रहते हैं तब तक तो वे अपूज्य रहती हैं और जब उनका गन्ध पुष्पादि दूर करदिया जायगा उसी समय वे पूज्य हो जायंगी । इसका तो यह मतलब कहा

जा सकता है कि पूज्य तथा अपूज्यत्व की शक्ति गन्धपुष्पा-दिकों में है स्वतः स्वभाव प्रतिमाओं में पूज्यत्व नहीं है। इसलिये जब गन्धपुष्पादिक चढ़े हुवे रहते हैं तब तो प्रतिमाओं का प्रभुत्व चला जाता है और ज्योंही उसे जल से धो डाला उसी समय प्रभुत्व, दौड़ कर आ बैठता है। इस पर हमारी यही समोचा है कि जिन प्रतिमाओं के त्रैलोक्य पूज्यत्व गुण को अतिशय अल्प गन्ध हरण कर लेता है उन प्रतिमाओं के दर्शनों से हमारे जीवन जीवन के पाप कैसे दूर हो सकेंगे? जिन प्रतिमाओं में अपने बड़े भारी पूज्यत्व गुण की रक्षा जरा से गन्ध से करने की सामर्थ्य नहीं है उन प्रतिमाओं के पूजन विधानादिकों से कर्म समूह का पराजय होना एक तरह से दुष्करही कहना चाहिये॥

यदि केवल गन्धपुष्पों के चढ़ने मात्र से जिन प्रतिमाओं में अपूज्यत्व की कल्पना करली जाय तो, भामंडल, छत्र, रथ, और चामरादिक पदार्थों का निरन्तर सम्बन्ध रहने से क्योंकर पूज्यता बनी रहैगी? भामंडलादि तो गन्धपुष्पों से और भी अधिक हानि के कारण है।

प्रश्न–भामंडलादिकों का प्रतिमाओं से सम्बन्ध नहीं रहता है। और गन्धपुष्पादिकों को तो उनके चरणों पर ही चढ़ाने पडते हैं। इस लिये भामंडलादि और गन्धपुष्पादिकों की समानता नहीं हो सकती। और यदि यही बात मानली जाय तो, अकलंक स्वामि के प्रतिमा पर तन्तु-मात्र के डालने से वह अपूज्य क्यों मानी गई थी? जिस तरह तन्तु प्रतिमाओं के निर्ग्रन्थता का बाधक है उसी

तरह गन्धलेपनादिकों को भी कहना किसी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता।

उत्तर-इस बात को कौन नहीं कहेगा कि भामंडलादिकों का प्रतिमाओं से स्पर्श नहीं होता है। परन्तु हां केवल इतना फर्क अवश्य देखा जाता है कि गन्धपुष्पादिकों का सम्बन्ध चरणों से होता है और भामंडलादिकों का पीठादिकों से। केवल इतने फर्क से स्पर्श हो नहीं होता यह कोई नहीं कह सकता। इतने पर भी अकलङ्कस्वामि के विषय को उठाकर दोष देना अयोग्य नहीं है क्या? अस्तु। यदि अकलंकदेव के विशेष कार्य को उदाहरण बना कर निषेध किया जाय तो भी तो निराबाध नहीं ठहर सकता। इस बात को सब कोइ जानते हैं कि जिन भगवान् के अभिषेक के बाद उनका मार्जन करने के लिये हाथर दो दो हाथ कपड़े की ज़रूरत पड़ती है। ज़रूरत ही नहीं पड़ती, किन्तु उसके बिना काम ही नहीं चलता। फिर उस समय प्रतिमाएं पूज्य रहेंगी? अथवा अपूज्य? यदि कहोगे पूज्य ही बनी रहेंगी तो जिस तरह वस्त्र का सम्बन्ध रहने से प्रतिमायें पूज्य बनी रहती हैं उसी तरह शास्त्रानुसार गन्धपुष्पादिकों के चढ़ने से भी किसी तरह पूज्यत्व में बाधा नहीं आ सकती। कदाचित् किसी कारण विशेष के प्रतिबन्ध से यह बात ध्यान में न आवे तो मैं नहीं कह सकता कि उसकी उल्टी युक्ति को कोई स्वीकार करेगा?

प्रश्न—माना हमने कि कपड़े का लगाना एक तरह प्रतिमा-

ओं के निर्ग्रन्थता का बाधक है । परन्तु इसके बिना काम नहीं चलता । इस लिये मार्जनक्रिया को शास्त्रानुसार होने से लगाना ही पड़ता है । परन्तु गन्धपुष्पादिकों के तो अभाव में भी काम निकल सकता है । दूसरे वस्त्र का उसी समय तक सम्बन्ध रहने से प्रतिमाओं की शान्त मुद्रा में किसी तरह का विकार भी नहीं आता । और गन्धपुष्पादिकों के सम्बन्ध से तो प्रत्यक्ष शान्तमुद्रा में विकार दिखाई देता है । इसलिये भी कह सकते हैं कि गन्धपुष्पादिकों का चढ़ाना अनुचित है ।

उत्तर किसी विषय को बाधा देना उसी समय ठीक कहाजा सकता है कि जब बाधा देने वालों का कहना निर्दोष सिद्ध हो जाय । और यदि अपना कहा हुआ अपने पर ही सवार हो जाय तो, कौन बुद्धिमान उसे योग्य कहेगा ? तो जब तुम कपड़े को निर्ग्रन्थ स्वरूप का बाधक मान चुके हो परन्तु अनुरोध वश तथा शास्त्रानुसार होने से उस का उपयोग करना ही पड़ता है । फिर उसी तरह गन्ध लेपन को शास्त्रानुसार स्वीकार करने में कौन सी हानि कही जा सकेगी ? यदि शास्त्रों में गन्ध लेपन का विधान न होता और लोग मनमानी प्रवृति से उसे स्वीकार करने लग जाते तो, तुम्हारा कहना बेशक ठीक कहा जा सकता था । परन्तु, ऐसा न होकर जब वह शास्त्रानुसार है फिर उसे सादर स्वीकार करना चाहिये । गन्ध लेपन से शान्तमुद्रा का भङ्ग बताना भी ठीक नहीं है । जब थोड़े से गन्ध लेपन से शान्तमुद्रा

का भङ्ग कहोगे तो, क्या उसी तरह हाथ २ दो दो हाथ वस्त्र के सम्बन्ध से शान्तमुद्रा का भङ्ग हम नहीं कह सकते हैं? यदि वास्तव में तत्त्वदृष्टि से विचारा जाय तो इस प्रकार कहना किसी तरह अनुचित नहीं कहा जा सकता। जिन लोगों के मत से गन्ध लेपनादिकों के संसर्ग से जिन प्रतिमाओं की शान्तमुद्रा का भङ्ग होना माना जाता है उन लोगों के सूक्ष्मतर अभिप्रायों के अनुसार प्रतिमाओं को करोडों रुपयों के लागत के जिनालयों में विराजमान करना, अमौल्य रत्नादिकों के सिंहासनादिकों पर विराजमान करना, चांदी सोने के रथादिकों में बैठाकर बाजारों में सवारी निकालना, तथा उनके ऊपर लाखों रुपयों के छत्र, चामर, और भामंडलादि लगाना ये सब कारण शान्तमुद्रा के बाधक हैं। इसी कारण मुनियों को इन के सम्बन्ध का निषेध किया गया है। क्या शान्तमुद्रा के धारण करने वालों के लिये छोटे से मकान में काम नहीं चलता? सिंहासन, भामंडल, छत्र, चामरादिकों के न रहने से सौम्य छवि में बाधा आवेगी क्या? अथवा वीतरागियों को रथ में बैठे बिना काम नहीं चलेगा? मैं तो इन बातों को स्वीकार नहीं कर सकता।

प्रश्न—वीतरागियों के लिये न तो मन्दिरों की आवश्यक्ता है। न सिंहासन, भामंडल, छत्र, और चामरादिकों की जरूरत है। और रथ में बैठे बिना काम नहीं चलता सो भी नहीं है। किन्तु यह एक भव्य पुरुषों की गाढ़ भक्ति का परिचय है। तथा पहले भी समवशरणादिकों

की रचना होती थी, इसलिये प्राचीन और शास्त्रोक्त भी है। इसी कारण इतना विस्तार बढ़ाया जाता है॥

उत्तर-इसी तरह प्रतिपक्ष में हम भी यह कह सकते हैं कि वीतराग भगवान् को गन्ध लेपनादिकों की कोई जरूरत नहीं, परन्तु यह पूजक पुरुष की अखंड भक्ति का परिचय है। इसलिये गन्ध लेपनादि क्रियायें की जाती हैं। अन्यथा गन्धलेपन तो दूर रहे, किन्तु भगवत्को पूजन करने की भी कोई आवश्यक्ता नहीं है।

प्रश्न-फिर तो यह बात भक्ति के उपर निर्भर रही? यदि यही बात है तो, तुम्हारे कथनानुसार अलंकारादिक भी भक्ति के अंग हो सकते हैं।

त्तर पहले तो यह प्रश्न ही बेढंग है। अर्थात् यों कहना चाहिये कि शास्त्रविरुद्ध होने से यह प्रश्न ही नहीं हो सकता। यदि मानभी लिया जाय तो, इसका उत्तर पहिले भी हम लिख आये हैं। फिर भी यह कहना है कि यह विधान शास्त्रानुसार नहीं है। इसलिये प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसे भी यदि कोई स्वीकार न करें तो, यह दोष केवल हमारे ऊपर ही क्यों? उन लोगों पर भी तो लागू हो सकता है जो गन्ध लेपनादिकों का निषेध करनेवाले हैं। क्योंकि जिस तरह वे मन्दिरादि कार्यों के करने को भक्ति का परिचय बताते हैं। उसी तरह अलंकारादिक भी भक्ति के अंग भूत कहे जासकते हैं।

गन्ध लेपन को युक्तियों के द्वारा बहुत कुछ लिख चुके हैं अब देखना चाहिये कि इस विषय का शास्त्रों में किसतरह वर्णन है॥

भगवान् उमास्वामी कृत श्रावकाचार में :—

प्रभाते घनसारस्य पूजा कार्या जिनेशिनाम् ।

तथा :—

चन्दनेन विना नैव पूजां कुर्यात्कदाचन ।

अर्थात्—प्रातःकाल में जिन भगवान् को घनसार से पूजन करनी चाहिये। तथा पूजक पुरुष को योग्य है कि पूजन चन्दन के बिना कभी नहीं करे। खुलासा यों है कि जिन भगवान् की पूजन प्रात:काल में घनसार से, करने का उपदेश है। मध्याह्न काल में पुष्पों से, और संध्या समय में दीपक से। परन्तु विशेष इतना है कि इन तीनों समय में चन्दन पूर्वक पूजन करनी चाहिये।

भाव संग्रह में श्री वामदेव महाराज लिखते हैं :—

चंदणसुयंधलेओ जिणवरचलणेसु
कुणइ जो भविओ ।
लहइ तणु विक्किरियं सहावस-
सुयंधयं विमलं ॥

अर्थात्—जो भव्य पुरुष जिन भगवान् के चरणोंपर सुगंध चन्दन का लेप करते हैं वे स्वाभाविक सुगंध मय, निर्मल और वैक्रियक शरीर को धारण करते हैं।

श्री वसुनन्दि श्रावकाचार में :—

कप्पूरकुंकुमायरुतरुक्कमिस्सेण चंदणरसेण ।
वरबहुलपरिमलामोयवासियासासमूहेण ॥

वासाणुमग्गसंपत्तामयमत्तालिरावमुहलेण ।
सुरमउडघडियचरणं भत्तिए समलहिज्ज जिणं ॥

भावार्थ—देवताओं के मुकुट से घर्षित जिन भगवान के चरण कमलों पर कर्पूर, केशर, अगुरु, और मलयागिरि चन्दन आदि अतिशय सुगन्धित द्रव्यों से मिला हुआ, अत्यन्त सुगन्ध से दशों दिशाओं के समूह को सुगन्धित करने वाला, और अपनी स्वाभाविक सुगन्ध से आई हुई भ्रमरों की श्रेणि के शब्दों से शब्दायमान पवित्र चन्दन के रस से भक्ति पूर्वक लेप करना चाहिये ।

श्री पद्मनन्दि पच्चीसी में :—

यद्वद्वचो जिनपतेर्भवतापहारि
नाहं सुशीतलमपीह भवामि तद्वत् ।
कर्पूरचन्दनमितीव मयार्पितं सत्
त्वत्पादपंकजसमाश्रयणं करोति ॥

अर्थात्—इस संसार में जिस तरह जिन भगवान् के वचन संसार के संताप को नाश करने वाले हैं, और शीतल भी हैं उसी तरह मैं शीतल नहीं हूं । इसी कारण मेरे द्वारा चढ़ा हुआ चन्दन आप के चरणों का आश्रय करता है । इसी श्लोक की टीका में लिखा हुआ है कि :—"अनेन वृत्तेन चन्दनं प्रक्षिप्यते टिप्पका न दीयते" इति ॥

श्री अभयनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ति श्रेयोविधान में यों लिखते हैं :—

काश्मीरपंकहरिचन्दनसारसान्द्र-
निष्यन्दनादिरचितेन विलेपनेन ।
अव्याजसौरभतनुं प्रतिमां जिनस्य
संचर्चयामि भवदुःखविनाशनाय ॥

भावार्थ – स्वभाव से सुगन्धित शरीर को धारण करनेवाली जिन भगवान् की प्रतिमाओं को केसर और हरिचन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से बनाये हुए विलेपन से संसार के दुःखों को नाश करने के लिये पूजता हूं ।

श्री वसुनन्दि जिन संहिता में लिखा है :—

अनर्चितं पदद्वंद्वं कुंकुमादिविलेपनैः ।
बिम्बं पश्यति जैनेन्द्रं ज्ञानहीनः स उच्यते ॥

अर्थात् – केशरादिकों के विलेपन से रहित जिन भगवान् के चरण कमलों के दर्शन करनेवाला ज्ञान करके हीन समझना चाहिये ।

श्री एक सन्धि संहिता में लिखा है :—

यस्य नो जिनबिम्बस्य चर्चितं कुंकुमादिभिः ।
पादपद्मद्वयं भव्यैस्तद्वन्द्यं नैव धार्मिकैः ॥

अर्थात् – जिन जिनप्रतिमाओं के चरणों पर केशरादि सुगन्ध द्रव्यों का विलेपन नहीं लगा हुआ हो उन्हें धर्मात्मा पुरुष नमस्कारादि नहीं करें ।

इन्द्रनन्दि पूजा सार में :—

ॐ चन्दनेन कर्पूरमिश्रणेन सुगन्धिना ।
व्यालिम्पामो जिनस्याङ्घ्री निलिम्पाधी-
श्वरार्चितौ ॥

अर्थात्—इन्द्रादिकों से पूजनीय जिन भगवान् के चरण कमलों पर कर्पूर से मिले हुवे और सुगन्धित, चन्दन से लेपन करते हैं।

श्री धर्मकीर्ति कृत नन्दीश्वर पूजन में :—

कर्पूरकुंकुमरसेन सुचन्दनेन
ये जैनपादयुगलं परिलेपयन्ति ।
तिष्ठन्ति ते भविजनाः सुसुगन्धगन्धा
दिव्याङ्गनापरिवृताः सततं वसन्ति ॥

अर्थात्—जो जिन भगवान् के चरण कमलों पर कर्पूर, केशरादिकों के रस से मिले हुवे सुगन्धित चन्दन का लेपकरते हैं वे भव्य पुरुष निरन्तर देवाङ्गनाओं से वेष्टित होते हुवे स्वर्ग में निवास करते हैं।

पूजा सार में कहा है :—

ब्रह्मघ्नोऽथवा गोघ्नो वा तस्करः सर्वपापकृत् ।
जिनाङ्घ्रिगन्धसम्पर्कान्मुक्तो भवति तत्क्षणम् ॥

अर्थात्—ब्रह्म हत्या को किये हुवे हो, गाय का घात किया हो, अथवा चोर हो, ये भी दूर रहे, किन्तु सम्पूर्ण पापों का करने वाला भी क्यों न हो, जिन भगवान् के चरणों के गन्ध

का स्पर्श करने से सम्पूर्ण पापों से उसी समय रहित हो सकेगा।

वसुनन्दि श्रावकाचार में:—

चंदणलेवेण णरो जायइ सोहग्गसंपण्णो ।

अर्थात्—जिन भगवान् के चरणों पर लेप करने वाला सौभाग्य करके युक्त होता है।

श्री ब्रह्म नेमिदत्त नेमिनाथ पुराण में यों लिखते हैं:—

चन्दनागुरुकाश्मीरसम्भवैः सुविलेपनैः ।
जिनेन्द्रचरणाम्भोजं चर्चयन्ति स्म शर्मदम् ॥

अर्थात्—चन्दन, अगुरु, और केशर से बनाये हुवे विलेपन से जिन भगवान् के चरण कमलों को पूजते हुवे।

श्री षट्कर्मोपदेशरत्नमाला में:—

इतीमं निश्चयं कृत्वा दिनानां सप्तकं सती ।
श्रीजिनप्रतिबिम्बानां स्नपनं समकारयत् ॥
चन्दनागुरुकर्पूरसुगन्धैश्च विलेपनम् ।
सा राज्ञी विदधे प्रीत्या जिनेन्द्राणां त्रिसन्ध्यकम्

अर्थात्—इस प्रकार निश्चय करके जिन भगवान् की प्रतिमाओं का सात दिन तक अभिषेक कराती हुई। तथा चन्दन, अगरु, और कर्पूरादि सुगन्धित वस्तुओं से जिन भगवान् के ऊपर अनुराग पूर्वक विलेपन करती हुई। इत्यादि बहुत से प्राचीन २ ग्रन्थों में गंध लेपन करना लिखा हुआ है। इस

लिये गन्ध लेपन नतो सरागता का द्योतक है और न उसके लगने से प्रतिमायें अपूज्य होती हैं। जो लोग इस विषय के सम्बन्ध में दोष देते हैं वह शास्त्रानुसार नहीं है इसलिये प्रमाण भी नहीं माना जा सकता।

प्रश्न — पद्मनन्दि पच्चीसी में लेपन के स्थान में आश्रय पद का प्रयोग किया गया है। परन्तु आश्रय पद के प्रयोग से लेपन अर्थ नहीं हो सकता।

उत्तर—यदि आश्रय पद का लेपन अर्थ हम अपने मनोनुकूल करते तो तुम्हारा कहना ठीक भी था। परन्तु जब कोषादिकों में भी यही अर्थ मिलता है तो, वह अप्रमाण नहीं हो सकता। दूसरे उस श्लोक की टीका में स्पष्ट लिखा हुआ है कि इस पद से लेपन लगाना चाहिये। फिर उसे हम अप्रमाण कैसे कह सकते हैं?

श्री पंडित शुभशील, अनेकार्थसंग्रह कोष में विलेपन शब्द की जगह और भी कितने प्रयोग लिखते हैं:—

विलेपने चर्चनचर्चिते च
समाश्रयाऽऽलंभनसंश्रयाश्च।
समापनं प्रापणमाप्तिरीप्सा
लब्धिः समालब्धिरथोपलब्धिः॥

अर्थात्-चर्चन, चर्चित, समाश्रय, आलंभन, संश्रय, समापन, प्रापण, आप्ति, ईप्सा, लब्धि, समालब्धि और उपलब्धि इन प्रयोगों को विलेपन अर्थ की जगह लिखना चाहिये।

प्रश्न — चर्च धातु के प्रयोग पूजन अर्थ में आते हैं इस-लिये कितनी जगहें चर्च धातु के प्रयोग से लेपन अर्थ किया गया है वह ठीक नहीं है । कितनी जगहें "चर्चितं सलिलादिकैः" इसी तरह पाठ भी आता है । यदि चर्च धातु का लेपन अर्थ ही किया जाय तो साथही जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, और फल ये अष्ट द्रव्य भी जिन भगवान् के ऊपर चढ़ाना पड़ेंगे ?

उत्तर—जैनाचार्यों के मतानुसार एकान्त से अर्थ करना अनेकान्तका बाधक है । यदि चर्च धातु के प्रयोग केवल पूजन अर्थ में ही आते होते तो, यह बात ठीक मानली जाती । परन्तु सैकड़ों जगहँ चर्च धातु के प्रयोगों का लेपन अर्थ भी तो किया गया है । फिर लेपन अर्थ का निषेध कैसे माना जा सकेगा ? दूसरे चर्च धातु का लेपन अर्थ करने में प्रमाण भी मिलते हैं । ऊपर पंडित शुभशील का मत तो लिखा ही आये हैं । और इसी तरह अमर कोष में भी लिखा हुआ मिलता है । अमर कोष के विषय में तो यहां तक किम्बदन्ती सुनने में आती है कि इसके कर्त्ता महाकवि श्री धनञ्जय थे । अमरसिंह तथा इन में घनिष्ट सम्बन्ध था । अमरसिंह ने अमरकोष को किसी तरह हरण करके उसे अपना बना लिया । अस्तु । जो कुछ हो उससे हमें कुछ प्रयोजन नहीं । परन्तु अमरकोष अभी अमरसिंह के नाम से प्रसिद्ध हो रहा है ।

स्नानं चर्चा तु चार्चिक्यं स्थासकोऽथ प्रबोधनम् ।

अर्थात्—चर्चा, चार्चिक्य और स्थासक ये तीन नाम चन्दनादि सुगन्ध वस्तुओं से लेप करने के हैं।

"लेपे च सेवने चाटो चर्चयामि" इति ।

अर्थात्-लेपन तथा पूजन अर्थ में "चर्चयामि" ऐसा प्रयोग करना चाहिये। कहने का मतलब यह है कि चर्च धातु के प्रयोग बहुधा करके लेपन अर्थ में आते हैं और कहीं कहीं पूजन अर्थ में भी आजाते हैं। इस लिये जहां गन्ध अथवा पुष्प पूजन का सम्बन्ध हो वहां पर ऊपर लगाने अथवा चढ़ाने का अर्थ करना चाहिये। और जहां अष्टद्रव्यादिकों का सम्बन्ध हो वहां पूजन अर्थ करना चाहिये। इस अर्थ के करने में किसी तरह की बाधा नहीं आती। बाधा उस समय में आ सकती थी जब और आर्ष ग्रन्थों में लेपन का निषेध होता। इतने पर भी यदि पूजन अर्थ ही करना योग्य माना जाय तो, भावसग्रह, वसुनन्दि संहिता, श्रावकाचार, पूजासारादि ग्रन्थों में खास लेपन शब्द का प्रयोग आया है, वहां पर किस तरह निर्वाह किया जायगा?

प्रश्न—वसुनन्दि संहिता, तथा एकसन्धि संहिता के श्लोकों से विरोध का आविर्भाव होता है?

उत्तर-वह किस तरह?

प्रश्न--यदि यही बात ठीक मानली जाय तो, क्या केवली भगवान् के दर्शन पूजनादि करने वाले अज्ञानी अथवा अधर्मात्मा कहे जा सकेंगे?

उत्तर-क्या इसी को विरोध कहते हैं ? अस्तु । परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि केवली भगवान् और प्रतिमाओं की पूजनादि विधियों में प्रायः अन्तर देखा जाता है। इसलिये जिस अभिप्राय से वसुनन्दि स्वामि का कहना है वह बहुत ठीक है । उस में किसी तरह का विरोध नहीं कहा जा सकता । इतने पर भी यदि यह बात न मानी जाय तो, केवली भगवान् का अभिषेक नहीं होता फिर प्रतिमाओं का भी नहीं होना चाहिये। केवली भगवान् अन्तरीक्ष रहते हैं प्रतिमाओं को भी वैसे ही रहना चाहिये । केवलीजिन परस्पर में कभी नहीं मिलते हैं प्रतिमाओं को भी एक जिनालय में एकही को रहना चाहिये। इत्यादि।

प्रश्न—खैर ! मानलिया जाय कि केवली भगवान् की और प्रतिमाओं की पूजनादि विधियों में अन्तर है। परन्तु अकृत्रिम प्रतिमाओं में तो भेद नहीं रहता ? फिर इनके दर्शन पूजनादि करने वालों को ज्ञान हीन कहना पड़ेगा ?

उत्तर-अकृत्रिम तथा कृत्रिम प्रतिमाओं में भी प्रतिष्ठादि क्रियाओं का भेद रहता है । एक की प्रतिष्ठादि होती है एक की नहीं होती यह भी सामान्य भेद नहीं है। यह भी दूर रहे, परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है कि अकृत्रिम प्रतिमाओं पर गन्ध नहीं लगता है । शास्त्रों में तो गन्ध लगाने का प्रमाण मिलता है फिर इसे अप्रमाण नहीं कह सकते।

मुनि कनककीर्त्ति नन्दीश्वर द्वीप पूजन विधान में यों लिखते हैं:—

विलेपनं दिव्यसुगन्धद्रव्यै-
येषां प्रकुर्वन्त्यमराश्च तेषाम्।
कुर्वेऽहमङ्गे वरचन्दनाद्यै-
र्नन्दीश्वरद्वीपजिनाधिपानाम्॥

अर्थात्—नन्दीश्वर द्वीप में जाकर जिनके शरीर में देवता लोग सुगन्धित चन्दनादि द्रव्यों से लेप करते हैं उन्हीं जिन भगवान् के पावन देह में उत्तम चन्दनादि वस्तुओं से आज मैं भी विलेपन करता हूं।

चन्द्रप्रभु चरित्र में पण्डित दामोदर भी योंही लिखते हैं:-

अकृत्रिमं मनोहारि स्वपरिवारमण्डितः।
ततः सोऽगाज्जिनागारं निजसद्मनि संस्थितम्॥
त्रिः परीत्य विमम्राङ्गो जिनेन्द्रप्रतिमाः शुभाः।
नत्वा पुनः स्तुतिश्चक्रे फलदैस्तद्गुणव्रजैः॥
जलैः सुरभिभिःशीतैः सच्चन्दनविलेपनैः।
मुक्ताक्षतैः शुभैः पुष्पैश्चरुभिश्च सुधामयैः॥
रत्नदीपैः कृतोद्योतैः सद्धूपैर्घ्राणतर्पणैः।
सुरद्रुमोद्भवैः सारैः फलौघैः सत्फलप्रदैः॥
भव्यनिकरचित्तेषु हर्षोत्कर्षविधायिनीम्।
पूजां भगवतोऽकार्षीद्दुर्भवाघनाशिनीम्॥

भावार्थ:—फिर वह अच्युतेन्द्र अपने महल में स्थित मनोहर अकृत्रिम जिन मन्दिर में गया । वहां तीन प्रदक्षिणा देकर जिन भगवान् को सुन्दर प्रतिमाओं की स्तुति करने लगा। फिर सुगन्धित और अत्यन्त शीतल जल से, उत्तम २ चन्दनादि द्रव्यों के विलेपन से, मोतियों के अक्षतों से, नाना प्रकार के मनोहर फूलों से, अमृत मयी नैवेद्यों से, प्रकाशित रत्नों के दीपकों से, नासिका के सन्तुष्ट करने वाली धूप से, और उत्तम फलों के देनेवाले अच्छे २ नारङ्गी अनार, आम आदि फलों से, भव्य पुरुषों के चित्त में हर्ष को बढ़ाने वाली और जीवन जीवन के पापों को नाश करने वाली जिन भगवान् की पूजन करता हुआ । इससे जाना जाता है कि अकृत्रिम प्रतिमाओं पर भी चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन किया जाता है।

प्रश्न–वसुनन्दि संहिता तथा एकसन्धि संहिता में गन्धलेपन रहित प्रतिमाओं के पूजनादिकों का सर्वथा निषेध किया गया है । केवल निषेधही नहीं किन्तु उनके पूजनादि करने वालों को अज्ञानी तथा अधर्मात्मा बताया गया है । यह बात समझ में नहीं आती कि इन श्लोकों से ग्रन्थकर्त्ताओं का क्या मतलब है ? दूसरे इन श्लोकों के अर्थ पर विचार करने से यह भी प्रतीति होती है कि ग्रन्थ कर्त्ताओं के समय में उन लोगों के मतका प्रचार था जो गन्ध लेपनादिकों का निषेध करने वाले हैं । अधिक विचार करने से और भी प्राचीन सिद्ध हो सकते हैं ? फिर यों कहना चाहिये कि गन्ध लेपनादिकों के निषेध करने की प्रथा आधुनिक नहीं है किन्तु प्राचीन है ।

उत्तर-वसुनन्दि संहिता तथा एकसन्धि संहिता में महर्षियों ने जो कुछ लिखा है वह ठीक है। क्योंकि शास्त्रों के विरुद्ध चलनेवालों को केवल वसुनन्दि स्वामी ही बुरा नहीं लिखते हैं किन्तु सम्पूर्ण महर्षि लोग, सम्पूर्ण लोक समाज बुरा बताते हैं। यही कारण है कि प्राण सत्यार्थ मत के प्रतिकूल चलने से श्वेताम्बर, बौद्ध, यापनीय आदि मतों को हमारे शास्त्रों में मिथ्यात्व के कारण बताये हैं। क्या इस बात को कोई अस्वीकार करेगा कि उक्तमत जैनमुनियों के द्वारा नहीं चलाये गये हैं। मान लिया जाय, कि जो लोग अपने पदस्थ से भ्रष्ट हुवे हैं उन्हीं ने इन मतों को चलाये हैं। अब उन्हें जैन मत के अनुयायी नहीं कहना चाहिये। अस्तु हम भी इस बात को स्वीकार करते हैं। परन्तु पीछे से वे कुछ भी हो जांय उस से हमारा कुछ मतलब नहीं। प्रयोजन केवल इसी बात से है कि वे लोग पहले जैन मत के सच्चे अनुयायी थे। परन्तु फिर विरुद्ध होने से उन्हें महर्षि लोग बुरा कहने लगे। उसी तरह जब गन्ध लेपन की शास्त्रों में आज्ञा मिलती है फिर उसके निषेध करनेवालों को यदि जिनाज्ञा के भङ्ग करनेवाले कहें तो कौनसी हानि है। यह मेरा लिखना वसुनन्दि स्वामि आदि के श्लोकों को लेकर नहीं है क्योंकि उस समय में तो, ऐसे मत का अंश भी नहीं था। किन्तु लोक प्रवृत्ति को देख कर लिखा है। कदाचित् कहो कि फिर वसुनन्दि स्वामी के इस तरह निषेध करने का क्या अभिप्राय है? क्योंकि किसी विषय का निषेध तो

उसी समय हो सकता है जिस समय उसका प्रचार भी हो।

मैं जहां तक इस विषय पर अपने ध्यान को देता हूँ तो, मेरी समझ के अनुसार वसुनन्दि स्वामी के निर्लेप प्रतिमाओं के सम्बन्ध में लिखने का यह कारण प्रतीत होता है । गन्ध लेपन पूजनादि में तो लगाया ही जाता है । परन्तु यदि एक तरह इसे प्रतिष्ठित प्रतिमाओं का भी चिन्ह कहा जाय तो, कुछ हानि नहीं है और इसीलिये वसुनन्दि स्वामी का भी कहना है कि प्रतिमाओं के निर्लेप रहने से यह नहीं कहा जा सकता कि ये प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं । इसी धोखे से अप्रतिष्ठित प्रतिमाओं को भी लोग पूजने लग जांय तो आश्चर्य नहीं। इसके सिवाय और बात ध्यान में नहीं आती । यह कोई नियम नहीं है कि जिसका प्रचार हो उसी का निषेध होता है कितनी बातें ऐसी देखने में आती हैं जिनका प्रचार तो नहीं है और निषेध है ही । यही कारण है कि जैनियों में मांस, मदिरा और शिकारादिकों का प्रचार न होने पर भी उन्हें सखी के साथ में इनके त्याग का उपदेश दिया जाता है

गन्ध लेपनादिकों को निषेध करने वालों का मत प्राचीन हो, सो भी नहीं है । इस विषय में पं० वखतावर मल अपने बनाये हुवे "मिथ्यात्व खण्डन ग्रन्थ में यों लिखते हैं :—

आदि पुरुष यह जिन मत भाष्यो,
भवि जीवन नीके अभिलाष्यो ।
पहले एक दिगम्बर जानो,
तातें श्वेताम्बर निकसानो ॥

तिन में प्रकासि भई अति भारी,
सो तो सब जानत नर नारी ।
ताही मांझि वहसि अब करिकैं,
तेरहपंथ चलायो अरिकैं ॥
तब कितेक बोले बुधिवन्त,
किंह नगरी उपज्यो यह पंथ ।
किंह सम्वत कारण कहु कौन,
सो समझाय कहो तजि मौन ॥

प्रथम चल्यो मत आगरे श्रावक मिले कितेक ।
सोलह से तीयासिये गही कितुक मिलि टैक ॥
काहू पण्डित पैं सुनैं किते अध्यातम ग्रन्थ ।
श्रावक किरिया छांड़ि के चलन लगे मुनि पन्थ ॥
फिर कामा में चलि पर्यौ ताही के अनुसारि ।
रीति सनातन छांड़ि कै नई गही अघकारि ॥
केसर जिनपद चरचिवौ गुरु नमिवो जगसार ।
प्रथम तजी ए दोय विधि मनमह ठानि असार ॥
ताही के अनुसार तें फैल्यो मत विपरीत ।
सो सांची करि मांनियो झूठ न मांनहु मीत ॥

इस कथा के अनुसार यह ठीक २ मालूम पड़ता है कि जिन लोगों का मत गन्ध लेपनादिक विषयों के निषेध करने

का है वह समीचीन नहीं है । इसलिये अन्तिम कहना यह है कि :—

सूक्ष्मञ्जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धञ्च तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः॥

अर्थात् – बुद्धि के मन्द होने से कोई बात हमारी समझ में न आवे तो उसे अप्रमाण नहीं कहनी चाहिये। किन्तु जिन भगवान् अन्यथा कहनेवाले नहीं हैं। इसलिये उसे आज्ञा के अनुसार ग्रहण करनी चाहिये।
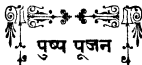
पुष्प पूजन

पुष्पपूजन तथा गन्धलेपन का प्रायः एकही विषय है। जिस तरह जिन भगवान् के चरणों पर गन्धलेपन किया जाता है उसी तरह पुष्पों को भी चरणों पर चढाने पड़ते हैं। कितनी शंकाओं का समाधान गन्ध लेपन के लेख से ही सकेगा। इसलिये इस लेख में विशेष बातों को न लिख कर आवश्यकीय बातें लिखे देते हैं। पुष्प पूजन से हमारा असली अभिप्राय चरणों पर चढ़ाने का है। परन्तु इसके पहले सचित्त पुष्पों को चढ़ाने चाहिये या नहीं ? इस प्रश्न का समाधान करना जरूरी है। यही कारण है कि कितने लोग तो इस समय भी प्रायः सचित्त पुष्पों से पूजन करते हैं और कितने चावलों को केशर के रंग से रंग कर उन्हें पुष्प पूजन की जगहँ काम में लाते हैं। यह सम्प्रदाय योग्य है या अयोग्य, इस विषय का समाधान इसी ग्रन्थ के "पुष्प कल्पना" नामक

लेख से हो सकेगा। यहां प्रकृत विषय सामान्य पुष्प पूजन का होने से लिखा नहीं गया है। पुष्पपूजन के विषय में शास्त्रों की आज्ञा को पहलेही खुलासा किये देते हैं।

भगवान् उमास्वामी श्रावकाचार में यों लिखते हैं:—

पद्मचम्पकजात्यादिस्रग्भिः सम्पूजयेज्जिनान्।

अर्थात्—कमल, चम्पक और जाति पुष्पादिकों से जिन भगवान की पूजन करनी चाहिये।

श्री वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है कि:—

मालियकयंवकणयारिसं पयासोयबउलतिलएहिं।
मन्दारणायचम्पयपउमुप्पलसिन्दुवारेहिं॥
कणवीरमल्लियाइ कचणारमयकुन्दकिङ्कराएहिं।
सुखणजजुहियापारिजासवणाढगरेहिं॥
सोवण्णरूवमेहिं य सुत्तादामेहिं वहुप्पयारेहिं।
जिणपयसंकयजुयलं पुजिज्ज सुरिन्दसयमहियं॥

अर्थात्—मालती, कदम्ब, सूर्यमुखी, अशोक, बकुल, तिलक वृक्ष के पुष्प, मन्दार, नागचम्पा, कमल, निर्गुंडी, कणवीर, मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकर, कल्पवृक्ष के पुष्प, पारिजात और सुवर्ण चांदी के पुष्पादिकों से पूजनीय जिन भगवान् के चरण कमलों की पूजन करना चाहिये।

इन्द्रनन्दि पूजासार में कहा है:—

ॐ सिन्दुवारैर्मन्दारैः कुन्दैरिन्दीवरैः शुभैः।
नन्द्यावर्त्तादिभिः पुष्पैः प्रार्चयामि जगद्गुरुम्॥

अर्थात्—सिन्दुवार, मन्दार पुष्प, कुन्द, कमल और नन्द्यावर्तादि उत्तम २ फूलों से जगद्गुरु जिन भगवान् की पूजन करता हूं ।

धर्मसार में लिखा है कि :—

हतपुष्पधनुर्बाणसर्वज्ञानां महात्मनाम् ।
पुष्पैः सुगन्धिभिर्भक्त्या पदयुग्मं समर्चये ॥

अर्थात्—कामदेव के धनुष को नाश करनेवाले जिन भगवान् के चरण कमलों को भक्ति पूर्वक कमल, केतकी, चमेली, कुन्द, गुलाब, केवड़ा, मन्दार, मल्लि, बकुल आदि नाना तरह के सुगन्धित पुष्पों से पूजता हूं ।

पण्डित आशाधर कहते हैं कि :—

सुजातिजातीकुमुदाब्जकुन्दै-
र्मन्दारमल्लीबकुलादिपुष्पैः ।
मत्तालिमालामुखरैर्जिनेन्द्र-
पादारविन्दं द्वयमर्चयामि ॥

अर्थात्—उन्मत्त भ्रमरों की श्रेणि से शब्दायमान, जाती, कुमुद, कमल, कुन्द, मन्दार, मल्लिका पुष्प, बकुल केवड़ा, कचनार आदि अनेक प्रकार के फूलों से जिन भगवान् के चरण कमलों को पूजन करता हूं ।

पद्म पुराण में :—

सामादैर्भूजलोद्भूतैः पुष्पैर्यो जिनमर्चति ।
विमानं पुष्पकं प्राप्य स क्रीडति निरन्तरम् ॥

इत्यादि अनेक शास्त्रों में सचित्त पुष्पों के चढ़ाने की आज्ञा है। परन्तु अब तो कितने लोग सचित्त पुष्पों के चढ़ाने में आना कानी करते हैं। उनका कहना है कि, मान लिया जाय कि सचित्त पुष्पों के चढ़ाने की आज्ञा है, परन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिकों के अनुसार यह ठीक नहीं है। कितने कारणों से किसी २ जगहँ शास्त्रों की आज्ञा भी गौण माननी पड़ती है। शास्त्रों में तो मोतियों के अक्षत, तथा रत्नों के दीपक भी लिखे हुवे हैं परन्तु अभी उनका चढ़ाने वाला तो देखने में नहीं आता। इसी तरह पुष्पों के विषय को भी सचित्तादि दोषों के कारण होने से गौण कर दिया जाय तो हानि क्या है?

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिकों का आश्रय लेकर सभी आज कल अपनी २ बातों को दृढ़ करते हैं। परन्तु मैं नहीं समझता कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिकों का क्या आशय है? मेरी समझ के अनुसार तो इनका यह आशय कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, कालादिकों का यह तात्पर्य समझना चाहिये कि किसी काम को शक्ति के अनुसार करना चाहिये। मान लो कि धर्म कार्य में हमारी शक्ति हजार रुपयों के लगाने की है तो उतनाही लगाना चाहिये। शक्ति के बाहर काम करने वालों की अवस्था किसी समय में विचारणीय हो जाती है इसे सब कोई स्वीकार करेंगे। इसी तरह समझ लो कि इस विकराल कलिकाल में साधु व्रत ठीक तरह रक्षित नहीं रह सकता। इसलिये गृहस्थ अवस्था में ही रहकर अपना आत्मकल्याण करना चाहिये। यही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिकों का मतलब कहा जा सकता है। इसकी विपरीत धर्म कार्यों में किसी तरह हानि बताना ठीक नहीं है।

प्रश्न–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिकों का यह मतलब नहीं है। किन्तु पुष्पादिकों के चढ़ाने में हिंसादि दोष देखे जाते हैं और हमारा धर्म है अहिंसा मयी। फिर तुम्हीं कहो कि इस विपरीत प्रवृति को देखकर और लोग कितना उपहास करेंगे ?

उत्तर–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिकों का यह अर्थ ठीक नहीं है। पुष्पादिकों के चढ़ाने में पहले तो हिंसा होती ही नहीं क्योंकि :—

भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः ।

अर्थात्–शुभ परिणामों से पुण्य का बंध होता है और खोटे परिणामों से पाप का बन्ध होता है। इसलिये भावों को पाप कार्यों की ओर से बचाये रखना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन मन्दिरादिकों के बनवाने में तथा प्रतिष्ठादि कार्यों के कराने में प्रायः हिंसा का प्राचुर्य देखा जाता है परन्तु उन्हें अत्यन्त पुण्य के कारण होने से हिंसा के हेतु नहीं मान सकते। मुनि लोग बहुत सावधानता से ईर्या समिति पूर्वक गमन करते हैं उनके पांवों के नीचे यदि कहीं से जन्तु आकर हत जीवित होजाय तो भी वे दोष के भागी नहीं कहे जा सकते। उसी तरह पुष्पों के चढ़ाने में यत्नाचार करते हुवे भी यदि दैव गति से किसी प्राणि का घात हो जाय तो भी वह दोष का कारण नहीं कहा जा सकता। जैन मत में परिणामों की सब से पहले दरजे में गणना है। इसका भी यही तात्पर्य है कि कोई काम हो वह परिणामों के अनुसार फल का देने वाला होता है। जो जिन भगवान् की पूजन पवित्र

परिणामों से की हुई अतिशय फल को देने वाली होती है वही परिणामों की विकलता से की हुई प्रत्युत हानि की कारण हो जाती है। जिन प्रतिमाओं की पूजन करने से पुण्य बन्ध होता है परन्तु वही पूजन विदिशाओं में करने से कुल धनादिकों के नाशको कारण हो जाती है इस विषय में :—

उमास्वामि महाराज यों लिखते हैं :—

पश्चिमाभिमुखः कुर्यात्पूजां चेच्छ्रीजिनेशिनः।
तदा स्यात्संततिच्छेदो दक्षिणस्यां समंततिः॥
आग्नेयां च कृता पूजा धनहानिर्दिने दिने।
वायव्यां संततिर्नैव नैऋत्यां तु कुलक्षया॥
ईशान्या नैव कर्तव्या पूजा सौभाग्यहारिणी।

अर्थात्—यदि पूजक पुरुष पश्चिम दिशाकी ओर मुख करके जिन भगवान् की पूजन करे तो, सन्तति का नाश होता है। दक्षिण दिशा में करने से मृत्यु होती है। अग्नि दिशा में की हुई पूजा दिनों दिन धनादिकों की हानि की कारण होती है। वायव्य दिशा में करने से सन्तति नहीं होती है। नैऋत्य दिशा में करने से वंश का नाश होता है। और ईशान की ओर की हुई पूजा सौभाग्य की हरण करने वाली होती है। सारांश यह है कि पुण्य कर्मों से पापों के होने की भी संभावना है। इसी उदाहरण की पुष्पों के सम्बन्ध में भी ठीक कह सकते हैं। भक्ति पूर्वक जिन भगवान् की पूजन में काम लाये जायं तो, अत्यन्त अभ्युदय के कारण होते हैं। इस विषय का उदाहरण समन्तभद्र स्वामि रत्न करण्ड में लिखते हैं :—

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥

तथा सूक्ति मुक्तावलि में :—

यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुर-
स्त्रीलोचनैः सोऽर्च्यते ।

अर्थात्—जो जिन भगवान् को फूलों से पूजा करते हैं वे देवाङ्गनाओं के नेत्रों से पूजन किये जाते हैं । अर्थात् पुष्प पूजन के फल से स्वर्ग में देव होते हैं ।

उन्हीं पुष्पों के सम्बन्ध में ये सचित्त होते हैं। इनके चढ़ाने से हिंसा होती है । इत्यादि असंभावित दोषों के बताने से लोगों के दिल को विकल करना कहां तक ठीक कहा जा सकेगा यह मैं नहीं कह सकता।

पुष्पों के चढ़ाने में हिंसा नहीं होती यह ठीक २ बता चुके हैं। इतने पर भी जिन्हें अपने अहिंसा धर्म में बाधा मालूम पड़ती है उन से हमारा यह कहना है कि जिन मत में संकल्पी तथा आरंभी इस तरह हिंसा के दो विकल्प हैं। कहना चाहिये कि पुष्पों के चढ़ाने में कौन सी हिंसा कही जा सकेगी ? यदि कहोगे संकल्पी हिंसा है तो, उसे सिद्ध करके बतानो चाहिये । मैं जहां तक ख्याल करता हूं तो, पुष्पों के चढ़ाने में संकल्पी हिंसा कभी नहीं हो सकती । और न इसे कोई स्वीकार करेगा।

यदि पुष्पों के चढ़ाने में संकल्पी हिंसा मानली जाय तो, आजही जैनियों को अपने अहिंसा धर्म का अभिमान छोड़ देना पड़ेगा। असंबद्ध प्रलाप करने वालों को जरा भगवान् की

आज्ञा का भय रहना चाहिये। कदाचित् आरंभी हिंसा कहोगे तो, पुष्पों का चढ़ाना तुम्हारे कथन से ही सिद्ध हो जायगा। क्योंकि गृहस्थों को संकल्पी हिंसा के छोड़ने का उपदेश है। आरंभी हिंसा का नहीं। इसे हम स्वीकार करते हैं कि यद्यपि धर्म कार्यों में किसी अंश में हिंसा होती है परन्तु इन्हें प्रचुर पुण्य के कारण होने से वह हिंसा नहीं मानी जा सकती। इसी तरह धर्मसंग्रह के कर्त्ता का भी अभिमत है :—

जिनालयकृतौ तीर्थयात्रायां बिम्बपूजने।
हिंसा चेत्तत्र दोषांशः पुण्यराशौ न पापभाक्॥

अर्थात्—जिन मन्दिर के बनाने में, तीर्थों की यात्रा करने में, जिन भगवान् की पूजन करने में, हिंसा होती है परन्तु इन कार्यों के करने वालों को पुण्य बहुत होता है इसलिये वह हिंसा का अंश पापों का कारण नहीं हो सकता।

किन्तु :—

जिनधर्मोद्यतस्यैव सावद्यं पुण्यकारणम्।

अर्थात्—जो धर्मकार्यों के करने में सदैव प्रयत्नशील रहते हैं उन्हें सावद्य, पुण्य का कारण होता है।

भगवान् की पूजन करना धर्म कार्य है उस में और लोग क्यों हसेंगे? हम यदि किसी तरह का अन्याय करते तो, बेशक यह ठीक हो सकता था। खैर इतने पर भी वे इसी बात को पकड़े रहें तो क्या उनके कहने से हमें अपना धर्म छोड़ देना चाहिये? नहीं। ढूंढिये लोग मूर्त्ति पूजन का निषेध करते हैं। वैष्णव धर्म की निन्दा करते हैं। दुर्जन सज्जनों को

बुरी दृष्टि से देखते हैं तो, क्या हमें मूर्त्तिपूजनादि कार्यों को परित्याग कर देना चाहिये ? यह समझ ठीक नहीं है । जो बातें प्राचीन काल से चली आई हैं उन्हें मानना चाहिये।

पुष्प पूजन को सामान्यता से सिद्ध कर चुके, सचित्त पुष्पों का चढ़ाना शास्त्रानुसार निर्दोष बता चुके । अब प्रकृत विषय की ओर झुकते हैं। प्रकृत विषय हमारा जिन भगवान् के चरणों पर पुष्प चढ़ाना, सिद्ध करना है । वैसे तो जिस तरह गन्ध लेपन के विषय की शंकाओं का समाधान है उसी तरह इस विषय का भी समाधान कर लेना चाहिये ।

विशेष शास्त्रानुसार कुछ और लिखे देते हैं उसे देख कर पाठक अपनी हृदय गत विशेष शंकाओं का और भी निर्णय कर लेवें। यह प्रार्थना है।

श्री त्रिवर्णाचार में लिखा है कि :—

जिनाङ्घ्रिस्पर्शितां मालां निर्मले कंठदेशके ।

अर्थात्—जिन भगवान् के चरणों पर चढ़ी हुई पुष्प माला को अपने पवित्र कंठ में धारण करनी चाहिये । तात्पर्य यह है कि पूजक पुरुष को जिन भगवान् को पूजन करते समय इस तरह का संकल्प करना लिखा है :—

"इन्द्रोहमिति"

अर्थात्—मैं इन्द्र हूं इस तरह संकल्प करके जिन भगवान् की पूजन करनी चाहिये । पूजन करने वाले को पूजन के समय सम्पूर्ण अलंकारादि पहरे रहना चाहिये । इसी विषय में यों लिखा है :—

वस्त्रयुग्मं यज्ञसूत्रं कुंडले मुकुटं तथा ।
मुद्रिकां कङ्कणं चेति कुर्याच्चन्दनभूषणम् ॥
ब्रह्मग्रन्थिसमायुक्तं दर्भैस्त्रिपंचभि स्मृतम् ।
मुख्ययं वलयं रम्यं पवित्रमिति धार्यते ॥
एवं जिनाङ्घ्रिगन्धैश्च सर्वाङ्गं स्वस्य भूषयेत् ।
इन्द्रोऽहमिति मत्वात्र जिनपूजा विधीयते ॥

अर्थात्—दो वस्त्र, यज्ञोपवीत, दोनों कानों में दो कुण्डल, मस्तक के ऊपर मुकुट, मुद्रिका, कङ्कण, चन्दन का तिलक, और ब्रह्मग्रन्थि करके युक्त तीन अथवा पांच दर्भ से बना हुआ मनोहर वलय जिसे पवित्र भी कहते हैं, इन संपूर्ण अलङ्कारों को धारण करे । तथा इसी तरह जिनभगवान् के चरणों पर चढ़े हुए चन्दन से अपने सर्व शरीर को शोभित करके मैं इन्द्र हूं ऐसा समझ के जिनभगवान् की पूजन करनी चाहिये। इसी अवसर में उक्त पुष्प माला के कण्ठ में धारण करने की आज्ञा है ।

पं०—आशाधर प्रतिष्ठा पाठ में लिखते हैं—

जिनाङ्घ्रिस्पर्शमात्रेण त्रैलोक्यानुग्रहक्षमाम्
इमां स्वर्गरमादूतीं धारयामि वरस्रजम् ॥

अर्थात्—जिन भगवान् के चरणों के स्पर्श होने मात्र से त्रिभुवन के जीवों पर अनुग्रह करने में समर्थ और स्वर्ग की लक्ष्मी के प्राप्त कराने में प्रधान दासी, पवित्र पुष्प माला को कंठ में धारण करता हूं ।

इसी प्रतिष्ठा पाठ में और भी —

श्रीजिनेश्वरचरणस्पर्शादनर्घ्या पूजा जाता सा माला महाभिषेकावसाने बहुधनेन ग्राह्या भव्यश्रावकेनेति ।

अर्थात्—जिनभगवान् के चरण कमलों के स्पर्श से अमोल्य पूजन हुई है। इसलिये वह पुष्पमाला महाभिषेक की समाप्ति होने पर अन्त में बड़े भारी धन के साथ भव्य पुरुषों को ग्रहण करनी चाहिये।

तथा व्रतकथाकोष में श्रीश्रुतसागरमुनि लिखते हैं:—

तत्प्रश्नाच्छ्रेष्ठिपुत्रीति प्राह भद्रे शृणु ब्रुवे ।
व्रतं न दुर्लभं येनेहामुत्र प्राप्यते सुखम् ॥
शुक्लश्रावणमासस्य सप्तमीदिवसेऽर्हताम् ।
स्नापनं पूजनं कृत्वा भक्त्याष्टविधमूर्जितम् ॥
धीयते मुकुटं मूर्ध्नि रचितं कुसुमोत्करैः ।
कण्ठे श्रीवृषभेशस्य पुष्पमाला च धीयते ॥

अर्थात्—सेठ की पुत्री के प्रश्न को सुनकर अर्यिका कहती हुई। हे पुत्रि ! मैं तुम्हारे कल्याण के लिये व्रत का उपदेश करती हूं। उस व्रत के प्रभाव से इसलोक में तथा परलोक में दुर्लभ, सुख प्राप्त होता है। उसे तुम सुनो। श्रावण सुदि सप्तमी के दिन जिनभगवान् का अभिषेक तथा आठ प्रकार के द्रव्यों से पूजन करके वृषभजिनेन्द्र के मस्तक पर नाना प्रकार के फूलों से बनाया हुआ मुकुट तथा कंठ में पुष्पों की माला पहरानी

चाहिये। विशेष विधि को इस जगहँ उपयोगी न होने से नहीं लिखो है।

भगवान् इन्द्रनन्दि पूजासार में लिखते हैं:—

जैनक्रमाब्जयुगयोगविशुद्धगन्ध-
सम्बन्धबन्धुरविलेपपवित्रगात्रः।
तेनैव मुक्तिवशकृत्तिलकं विधाय-
श्रीपादपुष्पधरणं शिरसा वहामि॥

अर्थात्—जिनभगवान् के चरण कमलों पर चढ़ने से पवित्र गन्ध के सम्बन्ध से मनोहर विलेपन करके पवित्र शरीर वाला मैं, उसी चन्दन से मुक्ति के कारण भूत तिलक को करके चरणों पर चढ़े हुवे पुष्पों को मस्तक पर धारण करता हूं।

श्री यशस्तिलक में भगवत्सोमदेव महाराज लिखते हैं:—

पुष्पं त्वदीयचरणार्चनपीठसङ्गा-
च्चूडामणी भवति देव जगत्त्रयस्य।
अस्पृश्यमन्यशिरसि स्थितमप्यतस्ते
को नाम साम्यमनुशास्तु रवीश्वराद्यैः॥

अर्थात्—हे भगवन्! तुम्हारे चरणों की पूजन के सम्बन्ध से पुष्प भी तीन जगत का चूडामणी होता है। और दूसरों के मस्तक पर भी चढ़ा हुआ अपवित्र हो जाता है। इसलिये इस संसार में ऐसा कौन पुरुष है जो सूर्यादि देवों को आपके समान कह सके। अर्थात् जगत में आपकी समानता कोई नहीं कर सकता।

श्रीआराधना कथा कोष में—

तदागोपालकः सोऽपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः ।
भोः सर्वोत्कृष्ट ! मे पद्मं गृहाणेदमिति स्फुटं ॥
उक्त्वा जिनपादाब्जोपरि क्षिप्त्वाशु पङ्कजम् ।
गतो मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्म्मदम् ॥

अर्थात्—किसी समय कोई गोपालक जिनभगवान् के आगे खड़ा होकर हे सर्वोत्तम ! मेरे इस कमल को स्वीकार करो । ऐसा कह कर उस कमल को जिन भगवान् के चरणों पर चढ़ा करके शीघ्र चला गया । ग्रन्थकार कहते हैं कि उत्तम कर्म मूर्खपुरुषों को भी अच्छे फल का देने वाला होता है ।

श्री इन्द्रनन्दि पूजासार में लिखा है :—

एनोबन्धान्धकूपप्रपतितभुवनोद्धरनप्रौढरज्जुः
श्रेयःश्रीराजहंसी हरिणविशरुहप्रोल्लसत्कन्दवल्लिः ।
स्फारोत्फुल्लभासं नयनषडयनश्रेणिपेया विधेयात्
पुष्पस्रग्मञ्जरी नः फलममलयुजिनेन्द्राङ्घ्रिदिव्याङ्घ्रि
पस्था ॥

इसी तरह कथाकोष, व्रतकथाकोष, संहिता, प्रतिष्टा पाठादि अनेक शास्त्रों में पुष्पादिकों को चरणों पर चढ़ाना लिखा हुआ है । उसे न मान कर उलटा दोष बताना अनुचित है ।

प्रश्न—त्रिवर्णाचार किनका बनाया हुआ है ?

उत्तर—सोमसेनाचार्य का ।

प्रश्न–ये तो भट्टारक हैं!

उत्तर–अस्तु। क्या हानि है?

प्रश्न–हानि क्यों नहिं? भट्टारकों के ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मान सकते। क्योंकि जिस तरह वे नाना तरह के आडम्बर के रखने पर भी अपने को गुरु कहते हैं परन्तु शास्त्रों में तो गुरु का यह लक्षण है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी सः प्रशस्यते॥

अर्थात्–गुरु को विषय सम्बन्धी अभिलाषा, आरंभ और परिग्रह नहीं होनें चाहिये। ये लक्षण भट्टारकों में नहीं घटते हैं। इसी तरह उन्हीं ने अपनी पक्ष को दृढ़ करने के लिये शास्त्रादि भी अन्यथा बनादिये हों तो क्या आश्चर्य है?

उत्तर–इसे भी एक तरह का असंबद्ध प्रलाप कहना चाहिये। मैं नहीं कह सकता भट्टारकों ने ऐसा कौन सा बुरा काम किया है। जिस से उनके किये हुवे असीम उपकार पर भी पानी सा फिरा जाता है।

यदि आज भट्टारकों की सृष्टि की रचना न होती तो दहली में बादशाह के "या तो तुम अपने गुरुओं को बताओ अन्यथा तुम्हें मुसलमान होना पड़ेगा" इस दुराग्रह को कोई दूर कर सकता था? अथवा कितनी जगहँ आपदग्रस्त जैन धर्म को भट्टारकों के न होने से बेखटके कोई किये देता था? जो आज उनके उपकार के बदले में स्वयं एक तरह को बुरी दृष्टि से देखे जाने लगे हैं। अस्तु, और कुछ नहीं तो इतना तो

अवश्य कहेंगे कि उन लोगों का यह कथन चन्द्रमा के ऊपर धूल फेंकने के समान है जो लोग भट्टारकों के व्यर्थ अपवाद करने में दत्तचित्त हैं।

मानलिया जाय कि वे निर्ग्रन्थ गुरु के तुल्य नहीं है परन्तु इतना न होने से वे इतने विनय के भी के योग्य न रहें जो विनय साधारण अथवा मांसभक्षी आदि धर्मवाह्य मनुष्यों का किया जाता है ? केवल वर्तमान प्रवृति को देख कर परम्परा तक को कलंकित बना देना बुद्धिमानी नहीं है । खैर ! भट्टारक तो दूर रहें परन्तु शास्त्रों में मुनियों तक के विषय में अनाचार देखाजाता है तो, किसी एक अथवा दो मुनियों के दुराचार से सारे पवित्र मुनि समाज को दोष देना ठीक कहा जा सकेगा? नहिं । उसी तरह सब जगहँ समझ लेना चाहिये ।

मैं नहिं कह सकता कि लोगों के हृदय में यह कल्पना कैसे स्थान पालेती है कि भट्टारकों ने प्राचीन मार्ग के विरुद्ध ग्रन्थों को बनादिये हैं। यह वात उस समय ठीक कही जाती जब दश पांच, अथवा दो एक, ग्रन्थ जिनमत के सिद्धान्त के विरुद्ध बताये होते । परन्तु किसी ने आज तक इस विषय को उपस्थित करके अपने निर्दोष होने की चेष्टा नहीं की । क्या अब भी कोई ऐसा इस जगत में है जो भट्टारकों के बनाये हुवे ग्रन्थों को प्राचीन मार्ग के विरुद्ध सिद्ध कर सके ? यदि कोई इस विषय में हाथ डालेंगे तो उनका हम बड़ा भारी अनुग्रह मानेंगे।

खैर ! इस विषय को चाहे कोई उठावें अथवा न उठावें हम अपने पाठकों को एक दो विषयों को लेकर इसबात को सिद्ध कर बताते हैं कि भट्टारकों का जितना कथन है वह

प्राचीन पथका अनुसरण करने वाला है। इस समय विवादनीय विषय मुख्यतया गन्धलेपन, पञ्चामृताभिषेक, अथवा पुष्प चढ़ाना, ये हैं। और जितने शेष विवाद हैं वे सब इन्हीं पर निर्भर हैं। इनकी सिद्धि होने पर और विषयों की सिद्धि होने में फिर अधिक देरी नहीं लगेगी।

मैं आशा करता हूं कि भगज्जिनसेनाचार्य कृत आदि-पुराण, श्री वीरनन्दिमहर्षि कृत चन्द्रप्रभुकाव्य, भगवद्गुणभद्रा चार्य कृत उत्तरपुराण, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्त्ति कृत त्रैलोक्यसार, आदि ये ग्रन्थ प्रायः प्रसिद्ध हैं। इनके विषय में कोई यह नहीं कह सकता है कि ये ग्रन्थ प्रमाण नहीं हैं। इन्हीं में इस तरह लिखा है :—

आदि पुराण में लिखा है कि—

यथाहिकुलपुत्राणां माल्यं गुरुशिरोधृतम् ।
मान्यमिव जिनेन्द्राङ्घ्रिस्पर्शान्माल्यादिभूषितम्

अर्थात्—जिस तरह पवित्र कुल के बालकों को अपने बड़े जनों के मस्तक पर की पुष्पमाला स्वीकार करने योग्य है उसी तरह जिनभगवान् के चरणों पर चढ़े हुए पुष्पमाल्य तथा चन्दनादि तुम्हें स्वीकार करने योग्य हैं।

भगवद्गुणभद्राचार्य उत्तरपुराण में यों लिखते हैं—

जयसेनापि सद्धर्मं तत्राद्यायैकदा मुदा ।
पर्वोपवासपरिम्लानतनुरभ्यर्च्य साऽर्हतः ।
तत्पादपङ्कजाश्लेषपवित्रां पापहां स्रजम् ।
पित्रे ऽदित हाभ्यां हस्ताभ्यां विनयानता॥

अर्थात्—किसी समय पवित्र धर्म को स्वीकार करके, अष्टान्हिक पर्व सम्बन्धी उपवासों से खेद खिन्न शरीर को धारण करने वाली जयसेना जिन भगवान् की पूजन करके भगवान् के चरण कमलों पर चढ़ने से पवित्र और पापों के नाश करने वाली पुष्पमाला को विनय पूर्वक अपने दोनों हाथों से पिता के लिये देती हुई।

त्रैलोक्यसार में भगवन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ति लिखते हैं :—

गाथा—

चंदणाहिसेयणच्चणसङ्गीयवलोयमन्दिरेहिं जुदा।
कोडणगुणणगिहहि अविसालवरपट्टसालाहिं ॥

अर्थात्—चन्दन करके जिन भगवान् का अभिषेक, नृत्य, सङ्गीत का अवलोकन, मन्दिरों में योग्य क्रीड़ा का करना, और विशाल पट्टशाला करके, और सम्बन्ध आगे की गाथा में है। यहां पर प्रयोजन मात्र लिखा है।

श्रीवीरनन्दि चन्द्रप्रभु काव्य में लिखते हैं—

वीतरागचरणौ समर्च्य सद्गन्धधूपकुसुमानुलेपनैः

अर्थात्—चक्रवर्त्ति पहले धूप, गन्ध, पुष्प और अनुलेपनादिकों से जिनभगवान् के चरणों की पूजन करके फिर चक्ररत्न की पूजन करता हुआ, इसी तरह गन्ध लेपनादिकों का विधान भट्टारकों के ग्रन्थों में लिखा हुआ है। इनके सिवाय और अधिक कोई बात हमारे ध्यान में नहीं आती। इसे कितने आश्चर्य की बात कहनी चाहिये कि दो वर्ष के बच्चे को भी इस तरह साहस के करने की इच्छा जाग्रत नहीं होती है। फिर तत्व के जानने वालों में असत्कल्पना करना कहां तक ठीक कही जा सकेगी?

क्या उन्हें पाप का भय नहीं था ? नहिं नहिं, यह कहना सर्वथा अनुचित है कि भट्टारकों ने मनमाने शास्त्रों को बना-डाले हों। मैंने जहांतक अपनी बुद्धिपर जोर दिया है तो, मुझे भट्टारकोंका कहना भी महर्षियों के समान निर्दोष दीखा है। और शक्त्यनुसार उसे सिद्ध भी कर सकता हूं। जिस किसी महोदय को मेरे लिखे से और भी अधिक इस विषय की आशंका हो वे कृपया अनुग्रहीत करें । मैं अवश्य उस विषय के निर्णयार्थ प्रयास करूंगा।

प्रश्न–इन प्रमाणों में कितने ग्रन्थ कथाभाग केभी हैं। उनकी तो आज्ञा के समान प्रमाणता नहीं होसकती। क्योंकि कथा भाग के ग्रन्थों में केवल उन लोगों का कर्तव्य लिखा रहता है। कथाभाग के ग्रन्थों को आज्ञा के समान मानने से राजा वज्रकर्ण को तरह भी अनुकरण करना पड़ेगा?

उत्तर–कथा भाग सम्बन्धी ग्रन्थों के प्रमाण देने से हमारा केवल इतना हो प्रयोजन है कि कितने लोग ऐसा भी कह देते हैं कि, हां शास्त्रों में तो अमुक बात लिखी है परन्तु उसे किसी ने की भी? इस प्रश्न का अवकाश उन लोगों को न रहे। परन्तु इस से यह नहीं कह सकते कि उन ग्रन्थों को बिल्कुल प्रमाणता हो नहीं है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो प्रायः वृद्ध लोग कहा करते हैं कि अपनी पुरानी चाल पर चलो, कुकर्म मत करो तुम्हारे कुल में सब सदाचारी हुये हैं तुम्हें भी वैसे ही होना चाहिये इत्यादि। यह भी कुल के गुरु जनों का कर्त्तव्य है तो, इसे छोड़ कर उलटे चलना चाहिये क्या? अथवा शास्त्रों में भी बड़े २ सत्पुरुष पवित्र कर्मों

के करने वाले हो गये हैं । उनका कृतकार्य हमारी प्रवृत्ति में भी आरहा है तो, क्या वह ठीक नहीं कहा जा सकेगा ? कथा भाग के ग्रन्थों में अथवा आज्ञा विधायक शास्त्रों में अर्थात् यों कहो कि प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में इतना ही भेद है कि पहले का तो, पुण्य कर्तव्य, आज्ञा के समान स्वीकार किया जाता हैं और पाप कर्मों का परित्याग किया जाता है। दूसरा सर्वथा माननीय ही होता है । और विशेष कुछ नहीं है ।

प्रश्न–व्रत कथा कोष में भगवान् को मुकुट पहराना लिखा हुआ है क्या अब भी कुछ कसर रही ? वीतरागभाव में कुछ परिवर्तन हुआ या नहीं ? यह लेख तो, दृढ़ निश्चय कराता है कि अब दिगम्बरीयों को एक तरह श्वेताम्बरी ही कहना चाहिये ।

उत्तर–नित्य और नैमित्तक इस तरह क्रियाओं के दो भेद हैं। नित्य क्रिया में पूजनादि प्रायः सामान्य विधि से होती हैं। और नैमित्तक क्रियाओं में कितनी बातें नित्य क्रियाओं की अपेक्षा विशेष भी होती हैं। नित्यक्रिया में जिनभगवान् को मुकुट नहीं पहराया जाता। परन्तु नैमित्तक क्रिया में व्रत के अनुरोध से पहराना पड़ता है। इसलिये दोषास्पद नहीं कहा जा सकता। नित्यक्रिया में अर्द्ध रात्रि को पूजन करना कहीं नहीं देखा जाता। परन्तु चन्दनषष्ठी, तथा आकाशपञ्चमी आदि व्रतों में उसी समय करनी पड़ती है। वैसे ही मुनियों को रात्रि में बोलने आदि का निषेध है परन्तु विशेष कार्य के आ

पड़ने पर सब काम करने पड़ते हैं। इस लिये कार्यानुरोध से इसे अनुचित नहीं कह सकते । इस जिनाज्ञा के मानने से चाहे श्वेताम्बरी कहो या अन्य, हमें कुछ विवाद नहीं है । यह तो अपनी २ समझ है । कल ढूंढिये लोग यह कहने लगे कि " ये लोग मन्दिरादि बनवाने में बड़ी भारी हिंसा करते हैं। इन लोगों का अहिंसा विषयक धर्माभिमान बिल्कुल अरण्य प्रलाप के समान समझना चाहिये। इत्यादि " तो क्या उन से झगड़ा करें ? नहिं। बुद्धिमान् पुरुष इसे अच्छा नहीं समझते। महर्षियों की आज्ञा मानना हमारा धर्म है। उनके निर्दोष वचनों को ठीक नहीं बताना यह धर्म नहीं है।

प्रश्न--अष्टमी, चतुर्दशी आदि पुण्यतिथियों में जैनीलोग हरित अर्थात् सचित्त पदार्थों को नहीं खाते हैं। परन्तु दुःख होता है कि वेही सचित्त पदार्थ इन्हीं पुण्यतिथि तथा पर्वों में जिनभगवान् के ऊपर चढाये जाते हैं ? खैर ! सचित्त भी दूर रहे, परन्तु वह भी अनन्त काय !

उत्तर-यह प्रश्न बिल्कुल अनुचित है। परन्तु क्या करें उत्तर न दिया जाय तो भी ठीक नहीं है । इसलिये जैसा प्रश्न है उसी तरह उत्तर दिये देते हैं । अष्टमी चतुर्दशी, तथा और पर्वों में हम हरित पदार्थों को नहीं खाते हैं यह ठीक है । परन्तु खाने की और चढ़ाने की समानता तो नहीं है । यदि इसी विषमदृष्टान्त से चढ़ाने का निषेध मान लिया जाय तो उसी के साथ अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथी में उपवास भी किया जाता है फिर जिनभगवान् को भी उपोषित रखना चाहिये । उस

दिन उनका अभिषेक तथा पूजनादि नहीं होना चाहिये। क्योंकि फिर तो वह एक बातों को समानता हो तुम्हारी बातों को दृढ़ करेगी। हमें इस बात का बहुत खेद होता है कि, कहां तो त्रैलोक्यनाथ, और कहां हम सरीखे पुरुषों की तर्क वितर्क। परन्तु इस बात को कहे कौन? यदि कहें भी तो उसे स्वीकार करना मुश्किल है। अस्तु जो कुछ हो इतना कहने में कभी पीछा नहीं करेंगे कि यह शङ्कायें नहीं हैं किन्तु सीधे मार्ग पर चलते हुए पुरुषों को उस से विचलित करने के उपाय हैं।

प्रश्न--जिनभगवान् के चरणों पर पुष्पों का चढ़ाना खूब बता चुके और साथही श्रावकों के लिये उनके ग्रहण करने का सिद्धान्त भी कर चुके। परन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि जिस विषय को कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार में, सकलकीर्त्ति ने सद्भाषितावली आदि में निषेध किया है उसी निर्माल्य विषय को एक दम उड़ा दिया। क्या अभी कुछ शङ्कास्थल है जिस से जिन भगवान् के ऊपर चढ़े हुवे गन्ध माल्य को निर्माल्य न कहें?

उत्तर-हमने जितनी बातें लिखी हैं वे ठीक शास्त्रानुसार हैं। इसी तरह तुम भी यदि किसी एक भी विषय का विधि निषेध करते तो, हमें इतने कहने की कोई जरूरत न थी। परन्तु शास्त्र कहां, वे तो केवल नाम मात्र के लिये हैं। चलना तो अपनी इच्छा के आधीन है। यह तो वही कहावत हुई कि "माने तो देव नहीं तो भींत का लेव" परन्तु इसे अपने आप भले ही अच्छी समझ ली जाय। बुद्धिवान् लोग कभी नहीं मानेंगे। हमें कुन्दकुन्द स्वामी का लेख मान्य है। उन्हों ने जो

कुछ लिखा है वह बहुत ठीक है । हमें न तो उन के लेख में कुछ सन्देह है और न कुछ विवाद है । परन्तु कहना चाहिये अपनो, जो पद पद में सन्देह भरा हुआ मालूम पड़ता है। जिनभगवान् के लिये चढ़ाया हुआ गन्धमाल्य निर्माल्य नहीं होता। और यदि मान लिया जाय तो उसी तरह गन्धोदक भी निर्माल्य कहा जा सकेगा।

प्रश्न–गन्धोदक निर्माल्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि शास्त्रों में उसे पवित्र माना है?

उत्तर जब गन्धोदक का ग्रहण करना शास्त्रानुसार होने से उसे निर्माल्य नहीं कहते हो फिर गन्धमाल्यादिकों का ग्रहण करना शास्त्रानुसार नहीं है क्या?

देखो! संहिता में लिखा है:—

गन्धोदकं च शुद्धार्थं शेषां सन्ततिवृद्धये।
तिलकार्थं च सौगन्ध्यं गृह्णन्स्यान्नहि दोषभाक् ॥

अर्थात्—पवित्रता के लिये गन्धोदक को, सन्तान वृद्धि के अर्थ आशिका को, और तिलक के लिये चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं को, अपने उपयोग में लाने वाला गृहस्थ दोष का भागी नहीं हो सकता। कहिये यह तो शास्त्रानुसार है न! अब निर्विवाद सब बातों को स्वीकार करनी चाहिये।

पाठक! आपके ध्यान में पुष्पों का चढ़ाना आया न? हमारा लिखना शास्त्रों के विरुद्ध तो नहीं है! जिस तरह शास्त्रों में पुष्प पूजन के सम्बन्ध में लिखा है वह उपस्थित है। इसे स्वीकार करके अनुग्रहीत कीजिये।

नैवेद्य पूजन।

कितने लोग तो नैवेद्य की जगहँ नारियल के खंडों को नैवेद्य की कल्पना करके उन्हें काम में लाते हैं और कितनों का कहना है कि यह ठीक नहीं है । जैन शास्त्रों में नैवेद्य पूजन के विषय का उल्लेख है उस जगहँ विविध प्रकार के बने हुवे घेवर, फेनी, मोदक आदि पकानों का तथा तात्कालिक पवित्र भोजन सामग्री के चढ़ाने के लिये लिखा हुआ है। कितने लोग पकानों को चढ़ाना स्वीकार करते हुवे भी कच्ची सामग्री का निषेध करते हैं। उनका कहना है कि चौके के बाहर का भोजन श्रावकों के भी योग्य नहीं रहता फिर परमात्मा की पूजन में उसे कौन ठीक कहेगा ?

चौके के बाहर का भोजन प्रवृत्ति के अनुसार श्रावक के योग्य यदि ठीक नहीं भी कहा जाय तो कोई हर्ज की बात नहीं है। परन्तु जिन भगवान् की पूजन में उसका विधान होते हुए भी निषेध करना ध्यान में नहीं आता। पहले तो इस विषय को महर्षियों ने लिखा है और सैकड़ों कथायें भी इस विषय की मिल सकती है जिन से कच्ची सामग्री का चढ़ाना निर्दोष ठहर सकता है। जरा मीमांसा करने का विषय है कि—कच्ची भोजन सामग्री इसीलिये निषेध की जाती है न ? कि वह चौके के बाहर की श्रावकों के योग्य नहीं रहती इसलिये पूजन में भी अयोग्य है। परन्तु यह कारण ठीक मालूम नहीं पड़ता। पूजन की

और भोजन की समानता नहीं हो सकती। और न पूजन में भोजन की अपेक्षा से कोई वस्तु चढ़ाई जाती है। पूजन करना केवल परिणामों की विशुद्धता का कारण है। नैवेद्य के चढ़ाने से न तो भगवान् सन्तोष को प्राप्त होते हैं और न चढाने से क्षुधार्त्त रहते हो सोभी नहीं है। परन्तु महर्षियों ने यह एक प्रकार से सीमा बांधदी है कि जिन भगवान् क्षुधा तृषादि अठारह दोषों से रहित हैं इसलिये वही अवस्था हमारी हो। यही नैवेद्य से पूजन करने का अभिप्राय है। संसार में इसे कोई अस्वीकार नहीं करेगा कि साधु पुरुषों के संसर्ग से पुरुषों में साधुता (सज्जनता) आती है और दुर्जनों के सहवास से दौर्जन्यता। इसीतरह क्षुधार्त्त की सेवा से क्षुधा नहीं मिट सकती। किन्तु जो इसविकल्प से रहित है उसी की उपासना करने से मिटैगी। जिन भगवान् में ये दोष नहीं देखे जाते हैं इसीलिये नैवेद्य से हमें उनकी उपासना करनी पड़ती है। नैवेद्य सामान्यता से खानेयोग्य पदार्थों को कहते हैं और उसी के चढ़ाने की शास्त्रों में आज्ञा है। फिर उस में यह विकल्प नहीं करसकते कि पक्वानादि चढाना योग्य है और तात्कालिक प्रासुक भोजन सामग्री योग्य नही है। परिणामों की पवित्रता के अनुसार कच्ची तथा पक्वानादिक सभी सामग्री का चढ़ाना अनुचित नहीं कहा जासकता। इसी विषय को शास्त्रप्रमाणों से और भी दृढ करने के लिये विशेष लिखना उचित समझते हैं।

श्री वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है किः—

दहिदुद्धसप्पिमिस्सेहिं कमकमत्तएहिं बहुप्पयारेहिं
तेवट्ठिवजणेहिं य बहुविहपक्कणभेएहिं ॥

रूप्यसुवण्णकंसाइथालणिहिएहिं विविह भरिएहिं ।
पूयं वित्थारिज्जा भत्तिए जिणदपयपुरओ ॥

अर्थात् दधि दूध और घी से मिले हुवे चावलों के भात से, शाक और व्यञ्जनों से, तथा अनेक तरह के पकानों से भरे हुवे सुवर्ण, चांदी, कांसी आदि के थालों से जिन भगवान् के चरण कमलों के आगे पूजन करनी चाहिये।

श्री धर्मसंग्रह श्रावकाचार में:—

केवलज्ञानपूजायां पूजितं यदनेकधा ।
चारुभिश्चरुभिर्जैनपादपीठं विभूषये ॥

अर्थात्—केवल ज्ञान समय की पूजन में अनेक प्रकार से पूजन किये गये जिन भगवान् के चरण सरोजों को मनोहर व्यञ्जनादि नैवेद्यों से विभूषित करता हूं।

श्री इन्द्रनन्दि पूजासार में:—

ॐ क्षीरशर्कराप्रायं दधिप्राज्याज्यसंस्कृतम् ।
सान्नाय्यं शुद्धपात्रस्थं प्रोत्क्षिपामि जिनेशिनः ॥

अर्थात्—दूध शर्करादि मधुर पदार्थों से युक्त, दधि से बनाये हुवे अतिशय पवित्र नैवेद्य को जिन भगवान् के चरणों के आगे स्थापित करता हूं।

श्री वसुनन्दि प्रतिष्ठासार में:—

स्वर्णादिपात्रविन्यस्तं हग्मनोहारि सद्रसम् ।
विस्तारयामि सान्नाय्यमग्रतो जिनपादयोः ॥

अर्थात्—सुवर्ण चांदी रत्नादिकों के पात्रों में रखे हुवे,

दीखने में नेत्रों को बहुत मनोहर, और अच्छे २ रसों से बने हुवे नैवेद्य को जिन भगवान् के चरणों के आगे चढ़ाता हूं। इसी तरह पद्मनन्दि पच्चीसी, जिन संहिता, नवकार श्रावका चारादि सम्पूर्ण शास्त्रों की आज्ञा है। इसलिये नैवेद्य में सब तरह की सामग्री चढ़ानी चाहिये।

वसुनन्दि स्वामी ने नैवेद्य पूजन के फल को कहते हुवे कहा है कि:—

जायइ णिविज्जदाणेण सत्तिगो कंतितेयसम्पण्णो।
लावण्णजलहिवेलातरंगसंपावीपसरीरो॥

अर्थात्—जिन भगवान् के आगे नैवेद्य के चढ़ाने से कान्ति मान्, तेजस्वी, अपूर्व सामर्थ्य का धारक तथा लावण्य समुद्र की वेला के तरंगों के समान शरीर का धारक होता है। इसी विषय के विशेष देखने की इच्छा रखने वाले षट्कर्मोपदेश रत्नमाला नामक ग्रन्थ में देख सकते हैं।

दीप पूजन।

दीप पूजन के सम्बन्ध में बसुनन्दि स्वामी का कहना है कि:—

दीवेहिं णियपदोहामियकतेएहिं धूमरहिएहिं।
मंदमंदाणिलवसेण णच्चतहिं अच्चणं कुज्जा॥
घणपडलकम्मणिचयव्वदूरमवसारियंधयारेहिं।
जिणचरणकमल पुरओ कुणिज्ज रयणं सुभत्तिए॥

अर्थात्—अपनी प्रभा समूह से सूर्य के समान तेज को धारण करने वाले, धूमरहित शिखा से संयुक्त, मन्द मन्द वायु से नृत्य को करते हुवे, और मेघपटल के समान कर्मरूप अंधकार के समूह को अपने प्रकाश से दूर करने वाले दीपकों से जिन भगवान् के चरण कमलों के आगे रचना करनी चाहिये।

श्री योगीन्द्र देव श्रावकाचार में यों लिखते हैं:—

दीवंदइ दिणइ जिणवरहं मोहं होइणहाइ।

अर्थात्—जो जिन भगवान् की दीपक से पूजा करते हैं उनका मोह अज्ञान नाश को प्राप्त होता है।

श्री इन्द्रनदि पूजासार में लिखा है:—

ॐ केवल्यावबोधार्को द्योतयन्नखिलं जगत्।
यस्य तत्पादपीठाग्रे दीपान् प्रद्योतयाम्यहम्॥

अर्थात्—जिनके केवल ज्ञान रूप सूर्य्य ने सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित किया है उन जिन भगवान् के चरणों के आगे दीपकों को प्रज्वलित करता हूं।

श्री धर्मसार संग्रह में लिखा है कि:—

सुत्रामशेखराक्रीडरत्नरश्मिभिरंचितम्।
दीपैर्दीपिताशास्यैर्द्योतयेऽर्हत्पदद्वयम्॥

अर्थात्—दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले दीपकों से इन्द्र के मुकुट में लगे हुवे रत्नों की किरणों से युक्त जिन भगवान् के चरणों को, प्रकाशित करता हूं।

श्री पद्मनन्दि पचीसी में यों लिखा है:—

आरार्त्रिकं तरलवन्हिशिखा विभाति
स्वच्छे जिनस्य वपुषि प्रतिबिम्बितं सत् ।
ध्यानानलो मृगयमाण इवावशिष्टं
दग्धुं परिभ्रमति कर्मचयं प्रचण्डम् ॥

अर्थात्—जिन भगवान् के निर्मल शरीर में चञ्चल अग्नि की शिखा करके युक्त, आरार्त्रिक अर्थात्—आरति करने के समय का दीप समूह प्रति बिम्बित होता हुआ शोभा को प्राप्त होता है। इस जगहँ भगवान्पद्मनन्दि उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो दीपक जिनभगवान् के शरीर में प्रतिबिम्बित होता है वह वास्तव में दीपक समूह नहीं है किन्तु बाकी के बचे हुवे प्रचण्ड कर्मसमूह को भस्म करने के लिये ढूंढने वाला ध्यान रूप अग्नि है क्या ?

श्री उमास्वामी श्रावकाचार में लिखते हैं:—

मध्यान्हे कुसुमैः पूजा सन्ध्यायां दीपधूपयुक् ।
वामांगे धूपदाहश्च दीपपूजा च सम्मुखी ॥
अर्हतो दक्षिणे भागे दीपस्य च निवेशनम् ।

अर्थात्—मध्यान्ह समय में जिन भगवान् की पूजन फूलों से, और संन्ध्या काल में दीप धूप से करनी चाहिये। वाम भाग में धूप दहन करनी चाहिये। दक्षिण भाग में दीपक चढ़ाने की आज्ञा है। और दीप पूजन जिन भगवान् के सामने होनी चाहिये।

श्री षट्कर्मोपदेश रत्नमाला में:—

त्रिकालं वरकर्पूरघृतरत्नादिसंभवैः ।
प्रदीपैः पूजयन् भव्यो भवेद् भाभारभाजनम् ॥

अर्थात्—उत्तम कर्पूर, घी, और रत्नादिकों के दीपकों से तीनों काल जिनभगवान् की पूजन करने वाला कान्ति का भाजन होता है। अर्थात्—दीपक से पूजन करने वाला अतिशय तेज का धारण करने वाला होता है।

महर्षियों की प्रत्येक ग्रन्थों में इसी तरह आज्ञा है परन्तु इस समय की प्रवृत्ति के देखने से एक तरह विलक्षण कल्पना का प्रादुर्भाव दिखाई पड़ता है। क्या अविद्या को अपने ऐसे विषम विष का प्रयोग चलाने के लिये जैन जातिही मिली है? क्या आचार्यों का अहर्निश परिश्रम निष्प्रयोजन की गणना में गिना जावेगा? क्या जैनसमाज उनके भारी उपकार की कदर नहीं करेगा? हन्त! यह अश्रुत पूर्व कल्पना कैसी? यह असंभावित प्रवृति—कैसी? यह महर्षियों के वचनों से उपेक्षा कैसी? नहिं नहिं ठीक तो है यह तो पञ्चम काल है न? महाराज चन्द्रगुप्त के स्वप्नों का साक्षात्कार है। वे लोग शान्त भावों का सेवन करें जिन्हें अपने प्राचीन गुरुओं के वचनों पर भरोसा है। यह शान्त भाव कभी उन्हें कल्पतरु के समान काम देगा। परन्तु शान्तभाव का यह अर्थ कभी भूल के भी करना योग्य नहीं है कि अपने शान्त होने के साथही महर्षियों के भूतार्थ वचनों के बढ़ते हुवे प्रचार को रोक कर उन्हें भी सर्वतया शान्त करदें। ऐसे अर्थ को तो, अनर्थ के स्थानापन्न कहना पड़ेगा। इसलिये आर्षवचनों के प्रचार में तो दिनोंदिन प्रयत्न शील होते रहना चाहिये।

हमें दीप पूजन की मीमांसा करना है। पाठक महाशय भी जरा अपने उपयोग को सावधान करके एक बक्त उसपर बिचार करडालें।

जिस तरह नैवेद्य की जगहँ नारियल के खण्ड काम में लाये जाते हैं वही प्रकार दीपक का भी है। परन्तु विशेष यह है कि दीपक की जगहँ उन्हें केशर के मनोहर रंग से रंग लिये जाते हैं। चाहे और न कुछ होतो न सही परन्तु पूजक पुरुष की इतनी इच्छा तो अवश्य पूर्ण हो जाती है कि दीपक की तरह उनका भी रंग पीला हो जाता है। अच्छा होता यदि इसी तरह आठों द्रव्यों की जगहँ भी किसी एक द्रव्य से ही काम ले लिया जाता। और इससे भी कितना अच्छा होता यदि इसी पवित्र संकल्पित दीपक से सर्वगृह कार्य निकाल कर तैलादिकों के अपवित्र दीपकों का विदेशी वस्तुओं के समान बहिष्कार कर दिया जाता। खेद! बिचार बुद्धि हमारा आश्रय छोड चुकी? आचार्यों के परिश्रम का विचार नहीं, शास्त्रों की आज्ञा का विचार नहीं। जो कुछ किया वह सब अच्छा है। सच पूछो तो इसी भ्रमात्मक श्रद्धान ने हमें रसातल में पहुंचाया। इसी ने हमारे पवित्र भाग्य पर पानी फेरा। अस्तु।

जब किसी महाशय से अपने भ्रमात्मक ज्ञान की निवृत्ति केलिये पूछा जाता है कि इस तरह दीपक के संकल्प करने की विधि किस शास्त्र में मिलेगी तो कुछ देर तक तो उनके मुँह की ओर तरसना पड़ता है। यदि किसी तरह दया भी हुई तो यह युक्ति आकर उपस्थित होती है कि जब साक्षाज्जिनभगवान् का संकल्प पाषाणादिकों में किया जाता है तो, दीपक तथा पुष्पों के संकल्प में क्या हानि है? इस अकाट्य युक्ति का भी जब " जिन भगवान् का प्रतिमाओं में संकल्प नाना तरह के मंत्रों से होता है तथा शास्त्रानुसार है। इस आज्ञा के न मानने से धर्म कर्म का नाश होना सम्भव है। दूसरे, जीवों को

सुखों का कारण भी है, इसलिये योग्य और प्राचीन प्रणाली है। परन्तु दीपक के विषय में नतो कोई मंत्रविधान है न कोई शास्त्रविधान है और प्राचीन हो सो भी नहीं है। " इत्यादि युक्तियों से प्रतीकार किये जाने का यदि किसी तरह उपाय किया भी तो फिर विचारे पूछने वाले की एक तरह बारी आ-जाती है। यदि पूछने वाला खुशामदी हुआ तो हां में हां मिला कर उनके चित्तकी शान्ति करदेता है। यदि स्वतंत्रावलम्बी हुआ तो उनकी क्रोध वन्हि से प्रशान्त होना पड़ता है। यद्यपि वन्हि से शान्तिता नहिं होती परन्तु इस विषम विषय की आलोचना में असंभाव्य को भी संभाव्य मानना पड़ता है। जो हो परन्तु हमारा आत्मा इस विषय पर गवाई नहीं देता कि इस तरह दीपक की जगहँ नारियल के खंड युक्त कहे जा सकें ? इसलिये सारसंग्रह के कुछ श्लोकों को यहां पर लिखते हैं उनका ठीक २ शास्त्रानुसार समाधान करके हमारे चित्तकी शान्ति करेंगे उनका अत्यन्त अनुग्रह मानेंगे।

नालिकेरोद्भवैः खण्डैः पीतरक्तीकृतैरहो ।
पूजनं शास्त्रतः कस्माद्रीतिर्निस्सारिताऽधुना ॥
निद्रागारविवाहादौ दीपदीपालिकालिभिः ।
प्रयत्नेन कृतं दीपं पूजने निन्द्यते कुतः ॥
गणनाथमुखात्पूर्वसूरिभिः किन्न निश्चितम् ।
पुष्पदीपादिभिश्चार्हन्पूज्यो नो वेत्ति तद्वद ॥
असत्यत्यागिभिः प्रोक्तं चेन्मिथ्या तत्त्वया कथम् ।
बोधत्रिकं बिना बुद्धं मत्प्रश्नस्योत्तरं कुरु ॥

आरम्भपुष्पदीपादिपूजनात्काति मानुषाः ।
दुर्गतिं प्रययुश्चेति विस्तरं वद शास्त्रतः ॥
यतोऽस्माकं भवेत्सत्या प्रतीतिस्तव भाषिते ।
नो दृष्टः शास्त्रसन्दोहश्चेद् वृथा कुपथं त्यज ॥

अर्थात्—केशरादिकों के रंग से रंगे हुये नारियल के टुकड़ों से जिनभगवान का पूजन करना यह रीति किन शास्त्रों में से निकाली गई है? शयन भवन में तथा विवाहदिकों में दीपकों की श्रेणियें अनेक तरह के उपायों से जलाई जाती है फिर पूजन में क्यों निन्दा की जाती है? जिनदेव के मुखकमल से पूर्वाचार्यों ने "दीप, पुष्प, फलादिकों से जिनभगवान् पूज्य है वा नहीं" इस तरह का निश्चय किया था या नहीं? झूंठे बचनों को किसी तरह नहीं बोलने वालों का कहा हुआ ठीक नहीं है यह बात मति श्रुति, और अवधि ज्ञान के विना कैसे जानी गई? मेरे इन प्रश्नों का उत्तर ठीक २ देना चाहिये। पुष्प, दीप, फलादिकों से जिनभगवान की पूजन करने से कितने मनुष्य दुर्गति को गये यह बात विस्तार पूर्वक कहो? जिससे तुम्हारे कथन में हमारी सत्य प्रतीति हो यदि कहोगे हमने शास्त्रों को नहीं देखे हैं तो फिर अपने कुमार्ग को तिलाञ्जली दो।

प्रश्न-यह तो ठीक है परन्तु घृत तो,इस काल में पवित्र नहीं मिलता है फिर क्या ऐसे वैसे घी को काम में ले आना चाहिये?

उत्तर-इस समय घी पवित्र नहीं मिलता यह कहना शैथल्यता का सूचक है। प्रयत्न करने वालों के लिये कोई बात

दुष्प्राप्य नहीं है फिर यह तो घी है। अच्छा यह भी मान लिया जाय कि पवित्र घी नहीं मिलता फिर यह तो कहो कि श्रावक लोगों के लिये जो घी काम में आता है वह अपवित्र है क्या ? खैर ! श्रावकों की बात जाने दीजिये जो घी व्रती लोगों के काम में आता है वह कैसा है ? उसे तो पवित्र ही कहना पड़ेगा। उस घी को दीपकादि के लिये काम में लाया जाय तो क्या हानि है ? हां एक बात तो रह ही गई ! नैवेद्य के बनाने में भी तो यही घी काम में लाया जाता है फिर उसी घी को एक जगहँ पवित्र और एक जगहँ अपवित्र कहना यह आश्चर्य नहीं है क्या ?

प्रश्न--कितने लोगों के मुंह से यह कहते हुवे सुना है कि गाय भैंस आदि को चरने के लिये जंगल में नहीं जाने देना चाहिये। उन्हें घरही में रख कर खिलाना पिलाना चाहिये। जिससे वे अपवित्र पदार्थों को नहीं खाने पावें फिर उन्हीं के घी दूध आदि को जिनभगवान् की पूजन के काम में लाना चाहिये।

उत्तर-यह वर्णन किसी मूलग्रन्थ में नहीं देखा जाता। केवल मन की नवीन कल्पना है । और न किसी को इस विषय में आगे पांव धरते देखा । फिर यह नहीं कह सकते कि इस प्रश्न का कितना अंश ठीक है। हम तो इस बात को पहले देखेंगे कि यह बात शास्त्रानुसार है या नहीं जो बात शास्त्रानुसार होगी उसे ही प्रमाण मानेंगे।

प्रश्न--यह कैसे कहते हो कि यह बात शास्त्रानुसार नहीं है ?

उत्तर-यदि हमारा कहना ठीक नहीं है तो तुम्हीं कहो कि किस शास्त्र में इस विधि का निकाल किया गया है ?

प्रश्न-क्रियाकोश में तो यह बात लिखी गई है ?

उत्तर-क्रिया कोष संस्कृतभाषा का पुस्तक है क्या ?

प्रश्न-नहीं, भाषा का।

उत्तर-वह किसी ग्रन्थ का अनुवाद है ?

प्रश्न-यह ठीक मालूम नहीं परन्तु सुनते हैं कि इधर उधर के संग्रह से बनाया गया है।

उत्तर-यदि किसी मूल ग्रन्थ के आधार पर है तो वह अवश्य माननीय है। बिना आधार के भाषाग्रन्थ मूल ग्रन्थों की तरह प्रमाण नहीं हो सकते। यह बात विचारणीय है कि लोगों को तो महर्षियों के वचनों पर श्रद्धा नहीं होती फिर निराधार दश दश पांच पांच वर्ष के बने हुवे ग्रन्थों की कहां तक प्रमाणता हो सकेगी ? यह बात अनुभव के योग्य है। खैर ! हमारा यह भी आग्रह नहीं है कि वह थोड़े दिनों का बना हुआ है इसलिये अप्रमाण है। थोड़े दिनों का बना हुआ होने पर भी यदि वह प्राचीन महर्षियों के कथनानुसार होता तो किसी तरह का विवाद नहीं था।

प्रश्न-दीपक पूजन में आरम्भ बहुत होता है और दीपक के जोने में हिंसा भी होती है। इसलिये भी ठीक नहीं है ?

उत्तर-दीपक पूजन में आरम्भादि दोषों को बताने वालों के लिये लिखा है कि—

भणत्येवं कदा कोऽपि दीपपुष्पफलादिभिः ।
कृता पूजाऽत्र सावद्या कथं पुण्यानुबन्धिनी ॥
तं प्रत्येवं वदेज्जैनस्त्यागे हिंसादिकर्मणाम् ।
मतिस्तव विशुद्धा चेद्वधूभोगादिकं त्यज ॥
जिनयात्रारथोत्साहप्रतिष्ठाऽऽयतनादिषु ।
क्रियमाणेषु पापं स्यात्तर्हि कार्यं न तत्त्वया ॥

अर्थात्—यदि कोई कहे कि दीप, पुष्प, फलादिकों से की हुई जिनभगवान् की पूजन सावद्य (पाप) करके युक्त रहती है फिर वह पुण्य के बन्ध की कारण कैसे कही जा सकेगी ? उसके लिये उत्तर दिया जाता है कि यदि हिंसादि कर्मों के त्याग करने में तुम्हारी बुद्धि निर्मल होगई है तो, स्त्री, पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी भोगादिकों के त्याग करने में प्रयत्न करो । तीर्थयात्रा, रथोत्सव, प्रतिष्ठा, मकानादिकों का बनवाना आदि कार्यों के करने में यदि पाप होता है तो, तुम्हें नहीं करने चाहिये ।

इन बातों के देखने से स्पष्ट प्रतीति होती है कि शास्त्रानुसार दीपक का चढाना अनुचित नहीं है । किन्तु अच्छे फल का कारण है । इसी से तो कहा जाता है कि:—

तमखण्डन दीप जगाय धारूं तुम आगे ।
सब तिमिर मोह क्षयजाय ज्ञान कला जागे ॥

फल पूजन ।

कितने लोगों का विचार है कि बादाम, लवंग, इलायची, छुहारे, पिस्ता आदि निर्जीव सूखे पदार्थ जब अनायासेन उपलब्ध होते हैं फिर विशेष श्रम से संग्रह किये हुवे हरित फलों के चढ़ाने से विशेष लाभ क्या है? यह बात समझ में नहीं आती। जैनियों का मुख्योद्देश जिस कार्य के करने से लाभ अधिक तथा हानि थोड़ी हो उसे करने का है। हरित फलों के चढ़ाने से जितनी हिंसा होती है उतना पुण्य होगा यह बात परिणामो के आधीन है। कदाचित् कहो कि हमारे परिणाम हरित फलों के चढ़ाने से ही पवित्र रहेंगे? परन्तु इसके पहले सामग्री की भी शुद्धता होनी चाहिये। कोई कहे कि हमारे परिणाम खोटे कामों के करने से अच्छे रहते हैं परन्तु उसे नीतिज्ञ पुरुष कब स्वीकार करने के हैं। तथा धर्म शास्त्रों से भी यह बात विरुद्ध है। इत्यादि।

हमारा यह कहना नहीं है कि सूखे फल न चढ़ाये जाँय। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कहा जा सकता कि इसके साथ ही आचार्यों की आज्ञा का उल्लङ्घन कर दिया जाय।

हरित फलों के निषेध के केवल दो कारण बताये गये हैं परन्तु बुद्धिमानों की नजर में वे उपयोगी नहीं कहे जा सकते। पहला कारण उनके सचित्त होने के विषय में है। परन्तु यह

बात हम लोगों के लिये निभ सकैगी ? इसका जरा सन्देह है। यदि हम सचित्त वस्तुओं का सर्वथा परित्याग किये होते तो, यह बात किसी अंश में सफल हो सकती थी। परन्तु दिन रात सचित्त वस्तुओं के स्वाद पर तो हम मुग्ध हो रहे हैं फिर क्यों कर यह श्रेणि हमारे लिये सुखद कही जा सकेगी ?

प्रश्न- हम लोग सचित्त वस्तुओं का सेवन करते हैं उससे पूजन में भी चढ़ाना यह समानता कैसे होसकेगी ? इसका तो यह अर्थ होसकता है कि हम नाना तरह विषयोपभोगों का सेवन करते हैं जिनभगवान् का भी उनसे सम्बन्ध रहना चाहिये ?

उत्तर-हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि तुम अपने समान जिन भगवान् को भी बनालो। इसे तो एक तरह की असत्कल्पना कहनी चाहिये। परन्तु यह बात मीमांसा के आधीन है कि जो बात शास्त्रानुसार जिन भगवान् के लिये नहीं लिखी हुई है उसका तो उनके लिये सर्वथा निरास ही समझना चाहिये। रहा शास्त्रानुसार विषय का सो वह तो उसी प्रकार अनुष्ठेय है जिस तरह उसका करना लिखा हुआ है। इसी लिये यह कहना है कि पहले तो शास्त्रों में हरित फलों के चढ़ाने की परम्परा है दूसरे सचित्त पदार्थों से हम विरक्त हो सो भी नहीं है फिर निष्कारण शास्त्रों की मर्यादा तोड़ना क्यों कर उचित कहा जा सकेगा।

सचित फलों के चढ़ाने से हिंसा होती है यह कहना भी ठीक नहीं है। इसे हम क्या कहें! सांसारिक कार्यों

के करने में भी इस कठोर शब्द का उच्चारण करना हानि कारक मालूम पड़ता है। सच पूछिये तो जो शब्द जैनियों के मुहँ पर लाने योग्य नहीं है वही शब्द जिन भगवान् की पूजन में जगहँ २ उच्चारण किया जाता है। इसे हृदय की संकीर्णता को छोड़ कर और क्या कह सकते हैं। जिन लोगों के निरंतर ऐसे व्यग्र परिणाम रहते हैं मैं नहीं समझता कि वेलोग जिन धर्म के लाभ से कभी अपनी आत्मा को शान्त करेंगे। उन लोगों का यह कहना केवल ऊपरी ढंग का है कि हरित फलों के चढ़ाने से परिणामों की शुद्धि नही रहती इसलिये बाह्य साधनों की शुद्धि होनी चाहिये। वेलोग बहुत कुछ उत्तम मार्ग पर चलने वाले हैं जो किसी तरह भक्तिमार्ग में लगे हुवे हैं और जिन भगवान् की पूजनादि आस्था पूर्वक करते हैं। अरे! मान लिया जाय कि ऐसे लोग किसी तरह असमर्थ भी हुवे तो क्या हुआ परन्तु वे अपने परिणामों को तो विकल नहीं करते हैं। वे शुभ के भोक्ता होते हैं यह निश्चय है। जरा षट्कर्मोपदेशरत्नमाला को निकाल कर उसमें उस कथा का मनन कर जाइये जिस में तोते के भक्ति पूर्वक आम्र फल के चढ़ाने का फल लिखा हुआ है। फलों के चढ़ाने से हिंसा होती है या नहीं इस विषय का समाधान प्रसंगानुसार "दीप पूजन" के विषय में भले प्रकार कर आये हैं। उसी स्थल से अपने चित्त का निकाल करलेना चाहिये।

फलों के चढ़ाने से विशेष लाभ नहीं बताना यह भी स्वबुद्धि के अनुकूल कहना है। आचार्यों ने फलपूजन

के फल के विषय में कहां तक लिखा है इसके कहने की कोई अवश्यक्ता नहीं है। जिस २ ने फल पूजन से लाभ उठाया है उनका वर्णन ग्रन्थों में लिखा हुआ है। उसे देखो! श्रद्धान में लाओ!!

अब देखना चाहिये शास्त्रों में फलों के चढ़ाने का किस तरह उल्लेख है।

श्री धर्मसंग्रह में लिखा है किः—

सुवर्णैः सरसैः पक्वैर्बीजपूरादिसत्फलैः ।
फलदायि जिनेन्द्राणामर्चयामि पदाम्बुजम् ॥

अर्थात्—मनोभिलषित फल के देनेवाले जिन भगवान् के चरण कमलों को सुन्दर वर्ण वाले और अत्यन्त मधुर रसवाले आम, केला, नारंगी, जम्बू, कवीट, अनार आदि उत्तम फलों से पूजता हूं।

श्री इन्द्रनन्दि संहिता मेंः—

ॐ मातुलिंगनारंगकपित्थक्रमुकादिभिः ।
फलैः पुण्यफलाकारैरर्च्चयाम्यखिलार्चितम् ॥

अर्थात्—त्रैलोक्य करके पूजनीय जिन भगवान् को पुण्य फल स्वरूप मातुलिंग, नारंगी, कवीट, सुपारी, नारियल आदि फलों से पूजन करता हूं।

श्री वसुनन्दि प्रतिष्ठासार में यों लिखा है किः—

नालिकेराम्रपूगादिफलैः सद्गन्धसद्रसैः ।
पूजयामि जिनें भक्त्या मोक्षसौख्यफलप्रदम् ॥

अर्थात्—नारियल, आंवला, सुपारी, बीजपूर, सीताफल, अमरूद, निम्बू, केला, नारंगी, आदि पवित्रगन्ध और उत्तम रसयुक्त फलों से अविनश्वर शिव सुख को देने वाले जिन भगवान् की अत्यन्त भक्ति पूर्वक पूजन करता हूं।

श्री आदिपुराण में महाराज भरत चक्रवर्त्ति ने फलों से पूजन की लिखी है उसे भी जरा देखियेः—

परिणतफलभेदैराम्रजम्बूकपित्थैः
पनसलकुचमोचैर्दाडिमैर्मातुलिंगैः ।
क्रमुकरुचिरगुच्छैर्नालिकेरैश्चरम्यै-
र्गुरुचरणसपर्यामातनोदाततश्रीः ॥

अर्थात्—छह खंड वसुंधरा के स्वामि महाराज भरत चक्रवर्त्ति अपने जनक आदिजिनेन्द्र के चरण कमलों की पके हुवे और मनोहर आम्र, जम्बू, कपित्थ, पनस, कटहर, लकुच, केला, दाडिम, नारंगी, मातुलिंग, सुपारी, नारियल आदि अनेक तरह के फलों से अत्यन्त भक्ति पूर्वक पूजन करत हुवे।

वसुनन्दि श्रावकाचार की आज्ञा है किः—

जंबीरमोयदाडिमकावित्थपणसुयनालिएरेहिं ।
हिंतालतालखज्जुरविंवणारंगचारेहिं ॥
पुइफलतिंदुआमलयजंबूविल्लाइसुरहिमिट्ठेहिं ।
जिणपयपुरओ रयणं फलेहिं कुज्जा सुपक्केहिं ॥

अर्थात्—जंबीर, कदलीफल, दाडिम, कपित्थ, पनस, नालिकेर, हिंताल, ताल, खर्जूर, किंदूरी, नारंगी, सुपारी, तिन्दुक,

आमला, जाम्बू, विल्व इत्यादि अनेक प्रकार के पवित्र सुगन्धित, और मिष्ट, पके हुवे फलों से जिनभगवान् के चरण कमलों के आगे रचना करनी चाहिये।

फल पूजन के सम्बन्ध में वसुनन्दि स्वामी पूजन के फल को कहते हुवे कहते हैं कि:—

जायइ फलेहिं संपत्तपरमणिव्वाणसोक्खफलो । ;;

अर्थात्—जिनभगवान् की फलों से पूजन करने वाले मोक्ष के सुख को प्राप्त होते हैं। इसी तरह जितने पुस्तक हैं उन सब में फल पूजन के सम्बन्ध में लिखा हुआ है। उसेही मानना चाहिये। महर्षियों की आज्ञा का उल्लंघन करना अनुचित है।
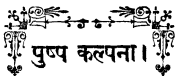
इस विषय में भगवान् उमास्वामी महाराज का कहनाहैकि:-

पद्मचम्पकजात्यादिस्रग्भिः सम्पूजयेज्जिनान् ।
पुष्पाभावे प्रकुर्वीत पीताक्षतभवैः समैः ॥

अर्थात्—कमल, चम्पक, केवड़ा, मालती बकुल, कदम्ब, अशोक, चमेली, गुलाब, मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकर, पारिजात आदि पुष्पों से जिनभगवान् की पूजन करनी चाहिये। यदि कहीं पर उक्त फूलों का योग न मिले तो, चावलों को केशर के रंग में रंग कर पुष्पों की जगहँ काम में लाने चाहिये। यह तो महर्षियों की आज्ञा है। परन्तु इस समय तो प्रवृति

कुछ और ही चलपड़ी है जो सर्व तरह के पुष्पों को मिलने पर भी कल्पित् पुष्प काम में लाये जाते हैं। आचार्यों की आज्ञा थी किस तरह उसका स्वरूप बन गया कुछ और ही। महर्षियों का अभिमत साक्षात्पुष्पों के अभाव में चावलों के पुष्पों के चढ़ाने का था परन्तु उसका प्रतिरूप यह होगया कि इन्हीं पुष्पों को चढ़ाना चाहिये हरित पुष्पों के चढ़ाने से पाप का बन्ध होता है।

कहिये पाठक! देखान? आचार्यों की आज्ञा का वैपरीत्य। अब इस जगहं विचारणीय यह है कि किस विधि का श्रावकों को अवलम्बन करना चाहिये? किस से भगवान् की आज्ञा का अखंड पालन होगा? मेरी समझ के अनुसार भगवान् उमा स्वामि महाराज की आज्ञा को बहुत गौरव होना चाहिये। क्योंकि महर्षिया के बचन और हम लोगों के बचनों की समानता नहीं हो सकती। वे तपस्वी हैं, पापकर्मों से अलिप्त हैं, अतिशय पूज्य हैं। और गृहस्थों की अवस्था कैसी है यह बात सब कोई जानते हैं। अब रही सचित्त पुष्पों के चढ़ाने तथा न चढ़ाने की सो इसका विशेष खुलासा पहले "पुष्प पूजन" सम्बन्धी लेख में कर आये हैं उसे देख कर निर्णय करना चाहिये।

प्रश्न - इस विषय में उपालम्भ देना अनुचित है। क्योंकि जिस तरह उमास्वामि ने लिखा है उस तरह मानते तो हैं? क्या उमास्वामि ने कल्पित पुष्पों को चढ़ाना नहीं लिखा है? और यह एकान्तही क्यों जो हरित पुष्पों के होने पर तो उन्हें नहीं चढ़ाना और अभाव में चढ़ाना?

उत्तर-जब आचार्यों की आज्ञा पर बिल्कुल ध्यानही नहीं

दिया जाता फिर उपालम्भ क्यों न दिया जाय। हां उमास्वामि ने चावलों के पुष्पों का चढ़ाना लिखा है परन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसके एकअंश को माना जाय और एक का सर्वथा परिहार ही करदिया जाय। जब उमास्वामि के बचनों को मानते हो तो, उनके लिखेऽनुसार मानना चाहिये। एकही के बचनों में कमी वेशी करना ठीक नहीं है। एकान्त इस नहीं कहते हैं किन्तु आचार्यों के बचनों को नहीं मानना यही एकान्त का स्वरूप है। अनेकान्त के मानने वाले यह कभी नहीं कह सकते कि आचार्यों के बचनों में प्रमाणता तथा अप्रमाणता भी है यह कहना विल्कुल जिन मत से विरुद्ध है। इसलिये जिन मत के सिद्धान्तानुसार अनेकान्त के मानने वालों को जिस तरह जिन भगवान् की आज्ञा है उसी तरह उसे माननी चाहिये।

कलश कारिणी चतुर्दशी

भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी के दिन जिनभगवान् का अभिषेक सर्वत्र होता है। अभिषेक होने के बाद कितनी जगहँ तो जिनभगवान् के चरणों पर चढ़ी हुई पुष्पमाला को न्योछावर कर के उसे श्रावक लोग स्वीकार करते हैं। और कितनी जगहँ उक्त पुष्पमाला की विधि की तरह जलके भरे हुवे कलश को करते हैं इस तरह पृथक् २ क्रियायें होती हैं। परन्तु शास्त्रों का पर्यालोचन करने से कलश सम्बन्धी विधि मन मानी मालूम पड़ती है।

और पुष्पमाला की विधि प्राचीन तथा शास्त्रानुसार प्रतीति होती है। मैं जहां तक इस विषय का अनुसंधान करता हूं तो इसके अवतरण का कारण यह ज्ञात होता है जिस तरह हरित फल पुष्पादिकों को सचित्त होने से उनका चढ़ाना अनुचित समझा गया उसी तरह इसे भी अनुचित समझा है। यदि वास्तव में हमारा यह अनुसन्धान ठीक निकला तो अवश्य कहूंगा कि यह कार्य शास्त्रविरुद्ध होने से अनुचित है। जरा शास्त्रों के ऊपर ध्यान देना चाहिये। शास्त्रों के देखे विना किसी विषय का छोड़ना तथा स्वीकार करना ठीक नहीं है।

प्रश्न—पहले तो जिनभगवान् को पुष्पमाल चढ़ा देना फिर उसे ही न्यौछावर करना, यह क्या जिनभगवान् का अविनय नहीं है? दूसरे, जब वह एक बक्त चढ़ चुकी फिर उसके ग्रहण करने का हमें अधिकार ही क्या है? किन्तु उसके ग्रहण करने से उल्टा आस्रव कर्म का बन्ध होता है ऐसा अमृतचन्द्राचार्य ने तत्वार्थसार में लिखा है।

तथाहिः—

चैत्यस्य च तथा गन्धमाल्यधूपादिमोषणम् ।
अतितीव्रकषायत्वं पापकर्मोपजीवनम् ॥
परुषासह्यवादित्वं सौभाग्यकरणं तथा ।
अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रवहेतवः ॥

अर्थात्—जिनभगवान् सम्बन्धी गन्ध, माल्य, और धूपादि द्रव्यों का चुराना, अत्यन्त तीव्रकषाय का करना, हिंसा के कारणभूत पापकर्मों से जीविका का निर्वाह करना, कठोर और नहीं सहन करने के योग्य बचनों का बोलना, इत्यादि

अशुभ अर्थात् पापकर्मों के अनेक कारण हैं। इन श्लोकों में गन्ध माल्यादिकों का भी ग्रहण आही चुका है। कदाचित् कहो कि हमने गन्धमाल्य को चुराया तो नहीं है यह कहना भी ठीक नहीं है। जब तुम कहते हो कि हमने उसे चुराया नहीं है हम तो उसे हजारों लोगों के सम्मुख लेते हैं अस्तु। उसके साथ में यह भी तो है कि जब तुमने उसे चुराया नहीं परन्तु जिनभगवान् ने तुम्हें दिया हो सो भी तो नही है इसलिये सुतरां उसे मुषितद्रव्य कहनां पड़ैगा। उसके ग्रहण करने का हमें कोई अधिकार नही है।

उत्तर-जिन भगवान् पर चढ़ी हुई पुष्पमाल को न्यौछावर करने से जिन भगवान् का अविनय होता है यह कहना विल्कुल कल्पित है इसमें अविनय के क्या लक्षण हैं यह मालूम नहीं पड़ता। क्या उसे जिनभगवान् के ऊपर चढ़ाई है इससे उसमें इतनी सामर्थ्य हो गई जो त्रैलोक्यनाथ का अविनय की कारण गिनी जाने लगी? एक वक्त चढ़ाई हुई माला को पुनः ग्रहण करना चाहिये या नहीं इस विषय का "पुष्प पूजन" नामक लेख में किसी संहिता की श्रुति का लिखकर ठीक कर दिया गया है। उसे देखना चाहिये फिर भी कहते हैं कि हां और द्रव्यों के ग्रहण करने का अधिकार नही है परन्तु गन्धोदक, गन्ध, पुष्पमाल इनके ग्रहण करने में किसी तरह का दोष नहीं है।

तत्वार्थसार के श्लोकों का यह तात्पर्य नहीं है कि जिन-भगवान् के ऊपर चढ़े हुवे गन्धमाल्य को स्वीकार करने से आस्रवकर्म का बन्ध होता है। किन्तु जो पूजन के लिये रहता

है उसके ग्रहण करने से आस्रवकर्म का बन्ध होता है। उल्टा अर्थ करके लोगों को सन्देह पैदा करना ठीक नहीं है। यदि गन्धमाल्य के ग्रहण करने को मुषितद्रव्य कहा जाय तो, फिर गन्धोदक मुषितद्रव्य क्यों नहीं? इसमें क्या विशेषता है और गन्धमाल्य में क्या न्यूनता है इसे लिखना चाहिये।

इसी विषय का अर्थात्—जिन भगवान् के चरणों पर चढ़े हुवे गन्ध माल्य के ग्रहण करने का उपदेश देने वाले, आदि पुराण में भगवज्जिन सेनाचार्य, उत्तरपुराण में गुणभद्राचार्य आदि महर्षियों ने ठीक नहीं कहा है ऐसा कहने में जिह्वा को संकुचित नहीं होना पड़ेगा क्या? यह विचारना चाहिये।

अभिषेक के बाद पुष्पमाला के न्यौछावर करने में इस तरह शास्त्र में लिखा हुआ मिलता है:—

श्री जिनेश्वरचरणस्पर्शादनर्घ्या पूजा जाता सा माला
महाभिषेकावसाने बहुधनेन ग्राह्या भव्यश्रावकेनेति।

यह श्रुति जिनयज्ञकल्प प्रतिष्ठा पाठ की है।

अर्थात्—जिनभगवान् के चरण कमलों के स्पर्श से अनमौल्य पूजन हुई है इसलिये वह पुष्पमाला भक्तिमान् श्रावकों को असीम धन खर्च करके ग्रहण करना चाहिये। कहिये पाठक वृन्द! शास्त्रों का कथन ठीक है न? हम कहां तक कहें यदि एक दो क्रियाओं में ही भेदभाव होता तो सन्तोष ही कर लेते परन्तु जगहँ २ यह विषमता है फिर यदि ऐसे ही उपेक्षा कर ली जाय तो शास्त्रमार्ग तो किसी दिन बिल्कुल अन्तरित हो जायगा इसलिये हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसके यथार्थ मन्तव्य को प्रगट करते रहें जिस से लोगों की श्रद्धा में न्यूनता न होने

पावे। और यही प्रार्थना प्रत्येक जैनमहोदय से करते हैं कि अपनी कर्त्तव्य बुद्धि का परिचय ऐसी जगहँ में देने का संकल्प करें।

सन्मुख पूजन

जिस तरह जिनप्रतिमाओं को पूर्व तथा उत्तरमुख विराजमान करने के लिये प्रतिष्ठापाठादिकों में लिखा हुआ है उसी तरह पूजक पुरुष के लिये भी दिशा विदिशाओं का विचार करना आवश्यक है। इस पर कितने लोगों का कहना है कि जब समव शरणादिकों में यह बात नहीं सुनी जाती है कि पूजक पुरुष को अमुक दिशा में रह कर पूजन करनी चाहिये और अमुक दिशाकी ओर नहीं तो, फिर उसी प्रकार प्रत्येक जिनमन्दिरों में भी यही बात होनी चाहिये। हम नहीं कह सकते कि धर्मकार्यो में दिशा विदिशाओं का इतना विचार किस लिये किया जाता है। धर्मकार्यों में यह विधान ध्यान में नहीं आता?

पाठक महाशय! देखी न आचार्यों के बचनों में शंका? यही बुद्धि का गौरव है। अस्तु रहे हमें कुछ प्रयोजन नहीं। केवल प्रकृत विषय पर विचार करना हमारा उद्देश है। जब छोटे से छोटे कार्यों में भी दिशा विदिशाओं का विचार किया जाता है फिर परमात्मा के मंगलमयी पूजनादिकों में इस बात को ठीक नहीं कहना क्या आश्चर्य का विषय नहीं है? इस बात को आवालवृद्ध कहते हैं कि मंगलीककार्य चाहे

छोटा हो अथवा बड़ा उसे पूर्व तथा उत्तर दिशा की ओर मुख कर के करना चाहिये। विवाहादिकों में यह बात कितनी जगह देखी होगी कि प्रायः क्रियायें पूर्व तथा उत्तरमुख की जाती हैं। गुरु भी शिष्य को पढ़ाते हैं तथा व्रतादिकों को ग्रहण करवाते हैं अथवा और कोई संस्कारादि क्रियायें करते हैं वे सब उत्तर तथा पूर्व दिशा की ओर मुख करके की जाती हैं। फिर नहीं कह सकते कि जिनभगवान् की पूजन में यह बात ध्यान में क्यों नहीं आती?

हां यह माना कि समवशरण में पूजन के समय दिशा विदिशाओं का बिचार नहीं है परन्तु यह भी मालूम है कि समव शरण सम्बन्धी और कृत्रिम जिनमन्दिरादि सम्बन्धी विधियों में कितना अन्तर है? कभी यह बात सुनी है कि समव शरण में जिनभगवान् का अभिषेक होता है तथा और कोई प्रतिष्ठादि विधियें होती हैं। परन्तु कृत्रिम जिनमन्दिरादिकों में तो इन के बिना काम भी नहीं चलता। उसी प्रकार समवशरण में यदि दिशा विदिशाओं का विधान नभी हो तो उस से कोई हानि नहीं होती। और यहां तो बहुत कुछ हानि की संभावना है इसी लिये आचार्यों ने दिशा विदिशाओं का बिचार किया है। समवशरण में दिशा विदिशाओं का बिचार है या नहीं इस विषय में अभीतक शास्त्र प्रमाण नहीं मिला है। इस कारण ऊपर का लेख इस तरह से लिखा गया है। पाठकों को ध्यान रखना चाहिये। यदि कहीं शास्त्र प्रमाण देखने में आया हो तो, इधर भी अनुग्रह करें।

श्रीउमास्वामि श्रावकाचार में लिखा है:—

स्नानं पूर्वमुखी भूय प्रतीच्यां दन्तधावनम्।
उदीच्यां श्वेतवस्त्राणि पूजा पूर्वोत्तरामुखी॥

अर्थात्—स्नान पूर्वदिशा की ओर मुख करके करना चाहिये। उत्तरदिशा की तरफ मुँह कर के दन्तधावन, दक्षिण दिशा की ओर शुक्र वस्त्रों को, धारण करना योग्य है। तथा जिनभगवान् की पूजन पूर्वदिशा तथा उत्तरदिशा की तरफ मुख करके करनी चाहिये।

और भीः—

तत्राचकः स्यात्पूर्वस्यामुत्तरस्यां च सन्मुखः।
दक्षिणस्यां दिशायां च विदिशायां च वर्जयेत् ॥
पश्चिमाभिमुखः कुर्यात् पूजां चेच्छ्रीजिनेशिनः।
तदा स्यात्सन्ततिच्छेदो दक्षिणस्यां समन्ततिः ॥
अग्नेयां च कृता पूजा धनहानिर्दिने दिने।
वायव्यां सन्ततिर्नैव नैऋत्यान्तु कुलक्षया ॥
ईशान्या नैव कर्त्तव्या पूजा सौभाग्यहारिणी ॥

अर्थात्—पूजक पुरुष को पूर्वदिशा तथा उत्तरदिशा में जिनभगवान् के सम्मुख रहना चाहिये। दक्षिण तथा विदिशाओं में पूजन करना ठीक नहीं है। वही खुलासा किया जाता है। जिन भगवान् की पूजन पश्चिम दिशा की ओर करने वाले के सन्तति का नाश होता है। दक्षिण की ओर की हुई पूजा मृत्यु की कारण होती है। अग्नि कोण में मुख करके पूजन करने वाले को दिनों दिन धन की हानि होती है। वायव्य कोण की ओर पूजन करने से सन्तान का अभाव होता है। नैऋत्यदिशा की तरफ की हुई पूजा कुल के नाश की कारण मानी गई है। और सौभाग्य हरण करने वाली ईशान दिशा में पूजा कभी नहीं करनी चाहिये।

तथा यशस्तिलक में भी पूजक पुरुष के लिये दिशा विदिशाओं का विचार है:—

उदङ्मुखं स्वयं तिष्ठेत्प्राङ्मुखं स्थापयेज्जिनम् ।
पूजाक्षणे भवेन्नित्यंयमी वाचंयमक्रियः ॥

अर्थात्—पूजन करने वाले को उत्तर मुख बैठ कर जिन भगवान् को पूर्वमुख विराजमान् करना चाहिये। पूजन के समय पूजकपुरुष को सदैव मौन युक्त रहकर पूजन करनी चाहिये। कदाचित् कोई शंका करे कि पूजक पुरुष मौनी होकर कैसे पूजन कर सकैगा क्योंकि पूजन विधान तो उसे बोलना ही पड़ेगा। यह कहना ठीक है परन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसे मौन रह कर पूजन वगेरा भी नहीं बोलनी चाहिये। किन्तु उस श्लोक का असली यह अभिप्राय है कि पूजनसमय में अन्यलोगों से वार्तालाप का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। इसी तरह अन्यधर्म ग्रन्थों की भी आज्ञा है।

सम्मुख पूजन करने से और तो जो कुछ हानि होती है वह तो ठीक ही है परन्तु सब से बड़ी भारी तो यह हानि होती है कि जिस समय पूजक पुरुष भगवान् के सम्मुख " शुष्को वृक्ष स्तिष्ठत्यग्रे" की कहावत को चरितार्थ करते हैं। उस वक्त विचारे दर्शन स्तवन और वन्दनादि करने वालों की कितनी बुरी हालत होती है यह उसे ही पूछिये जिसे यह प्रसंग आपड़ा है। और कहीं कहीं तो यहां तक देखने में आया है कि जब पूजक दश पांच होते हैं तब तो विचारों को भगवान के श्रीमुख के दर्शन तक दुष्वार हो जाते हैं। इतनी प्रत्यक्ष हानियों को देखते हुवे भी हमारे भाई उन पुरुषों को इतनी बुरी दृष्टि से देखते हैं जो जरासा भी यह कहे कि इस प्रकार पूजन करना आप का अनुचित है

लोगों को दर्शनों का अन्तराय होता है और वह आपके लिये भी उसी का कारण है परन्तु इस उचित शिक्षा को माने कौन उनके पीछे तो एक बड़ा भारी चार अक्षरों का ग्रह लगा हुआ है। अस्तु, इस पर हमारे पाठक महाशय ही विचार करें कि यह शास्त्राज्ञा कितने गौरव की है जो किसी प्रकार लोगों के परिणामों में विकलता नहीं होने देती। ऐसी २ उत्तम बातें भी हमारे भाईयों की बुद्धि में न आवें तो इसे कलियुग के प्रभाव के विना और क्या कहसकते हैं।

बैठी पूजन
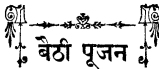
हम अपने पाठकों को कितने विषयों के सम्बन्ध में परिचय करा आये हैं। इस समय विषय यह उपस्थित है कि जिन भगवान् की पूजन किस तरह करनी चाहिये। कितने लोगों का कहना है कि पूजन खड़े होकर करनी चाहिये। महात्मा लोगों की पूजन के समय खड़ा रहना अतिशय विनय गुण का सूचक है। और कितनों का कहना इसके विरुद्ध है। वे कहते हैं कि यह बात न कहीं देखी जाती है और न सुनने में आई कि बड़े पुरुषों की सेवा खड़े होकर ही करनी पड़ती है। किन्तु यह बात अवश्य देखी जाती है कि जिस समय किसी महापुरुष का आगमन कहीं पर होता है उस समय उनके सत्कार के लिये खड़ा होना पड़ता है। और उनके बैठ जाने पर ही बैठ जाना पड़ता है। यही प्राचीन प्रणाली भी है। उसी अनुसार महर्षि वीरनन्दि प्रणीत चन्द्रप्रभु चरित्र में भी किसी स्थल

पर यह वर्णन आया है कि " किसी समय महाराज धरणीध्वज सिंहासन पर विराजे हुवे थे उसी समय एक तपस्वी क्षुल्लक भी वहीं पर किसी कारण से आनिकले महाराज को उसी वक्त उनके सत्कार के लिये सिंहासन पर से उठना पड़ा थाः—

अथ स प्रियधर्मनामधेयं परमाणुव्रतपालनप्रसक्रम् ।
पतिचिह्नधरं सभान्तरस्थः सहसा क्षुल्लकमागतं ददर्श ॥
प्रतिपत्तिभिरर्थपूर्विकाभिः स्वयमुत्थाय तमग्रहीत्खगेन्द्रः।
मतयो न खलूचितज्ञतायां मृगयन्ते महतां परोपदेशम् ॥

अर्थात्—किसी समय सभा में बैठे हुवे महाराज धरणीध्वज, अणुव्रत के पालन करने में दत्तचित्त और साधु लोगों के समान चिन्ह को धारण करने वाले प्रिय धर्म नामक क्षुल्लक वर्य्य को आये हुवे देखकर और साथही स्वयं उठकर उन्हें सत्कार पूर्वक लाते हुवे । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बात ठीक है कि बुद्धिमान् पुरुष योग्य कार्य के करने के समय किसी के कहने की अपेक्षा नहीं रखते हैं । " इसी तरह जिस समय पूजन में जिन भगवान् का आह्वानन किया जाता है उस समय अवश्य उठना पड़ता है और पूजन तो बैठ कर ही की जाती है।

पूजासार में भी इसी तरह लिखा हुआ मिलता है :—

धौतवस्त्रं पवित्रं च ब्रह्मसूत्रं सभूषणैः ।
जिनपादार्चनं गन्धमाल्यं धृत्वाऽर्च्यते जिनः ॥
स्थित्वा पद्मासनेनादौ णमोकारं च मंगलम् ।
उत्तमं सरणोचारं कुर्वत्यर्हत्प्रपूजने ॥

स्वस्त्यनं ततः कृत्वा प्रतिज्ञां तु विधापयेत् ।
जिनयज्ञस्य च ध्यानं परमात्मानमव्ययम् ॥
जिनाह्वानं ततः कुर्यात्कायोत्सर्गेण पूजकः ।
स्थापनं सन्निधिं चैव समंत्रैर्जिनपूजने ॥
पुनः पद्मासनं धृत्वा नाममालां पठेद्बुधः ।
अष्टधा द्रव्यमाश्रित्य भावेन पूजयेज्जिनम् ॥
पठित्वा जिननामानि दद्यात्पुष्पाञ्जलिं खलु ।
जिनानां जयमालायं पूर्णार्धं तु प्रदापयेत् ॥
कायोत्सर्गेण भो धीमान् पठित्वा शान्तिकं ततः ।
क्षमतव्यो जिनान्सर्वान् क्रियते तु विसर्जनम् ॥

अर्थात्—धोया हुवा वस्त्र, पवित्र, ब्रह्मसूत्र, और अलंकारादिकों के साथ जिन भगवान् के चरणार्चन के गन्ध माल्य को धारण करके पूजन करना चाहिये। पद्मासन से बैठकर पहले मंगल स्वरूप नमस्कार मंत्र को, और फिर सरण शब्द के उच्चारण पूर्वक अर्थात् " अर्हन्त सरणं पव्वजामि " इत्यादि जिन भगवान् की पूजन में पढ़ना चाहिये। इसके बाद स्वस्तिक, जिन पूजन की प्रतिज्ञा, ध्यान, और परमात्मा का चिन्तवन करना चाहिये। फिर कायोत्सर्ग से खड़ा होकर पूजक पुरुष को जिन भगवान् की पूजन में मंत्र पूर्वक आह्वानन, स्थापन, और सन्निधापन करना चाहिये। अनन्तर पद्मासन से बैठ कर जिन भगवान् की नाममाला को पढ़े और भक्ति पूर्वक आठ द्रव्यों से पूजन करे। जिन भगवान् की नामावली को पढ़ कर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिये। इत्यादि क्रियाओं को यथा विधि करके

कायोत्सर्ग पूर्वक शान्ति विधान पढ़कर और जिन भगवान् से क्षमा कराकर विसर्जन करना योग्य है।

इस लिये बैठ कर पूजन करनी अनुचित नहीं जान पड़ती है। और वही तो बड़े पुरुषों के विनय का अभि सूचक है कि उनके आगमन काल में सत्कार के लिये खड़ा होना। इस बात को कौन बुद्धिमान् स्वीकार करैगा कि आये हुये अतिथि के बैठने पर भी सूखे काष्ठ की तरह खड़ा ही रहना योग्य है? इसे तो विनय नहीं किन्तु एक तरह उन लोगों का अविनय कहना चाहिये। इन बातों के देखने से कहना पड़ता है कि जितनी प्रवृतियें इस समय की जा रही हैं उनमें शास्त्रानुसार बहुत थोड़ी भी दिखाई नहीं देती। महर्षियों के विषय में लोगों की एकदम आस्था उठ गई। उनके वचनों की ओर हमारी आधुनिक प्रवृत्ति नहीं लगती? यह विचार में नहीं आता कि इसका प्रधान कारण क्या है? कितने लोग महर्षियों को आधुनिक कहने लगे, कितने उन्हें अप्रमाण कहने लगे, कितने यह सब कृति भट्टारकों की है ऐसी उद्घोषणा करने लगे अर्थात् यों कहो कि इन बातों को अप्रमाण सिद्ध करने में किसी तरह कसर नहीं रक्खी परन्तु इसे महर्षियों के तपोबल का प्रभाव कहना चाहिये जो उनका उपदेश निर्विघ्न माना जारहा है उसको आजतक कोई बाधित नहीं ठहरा सका।

बैठ कर पूजन करने के सम्बन्ध में और भी शास्त्राज्ञा है। उमास्वामी महाराज श्रावकाचार में लिखते हैं कि:—

पद्मासनसमासीनो नासाग्रे न्यस्तलोचनः।
मौनी वस्त्रावृतास्योऽयं पूजां कुर्याज्जिनेशिनः॥

अर्थात्—पद्मासन से बैठकर नासिका के अग्रभाग में नयनों को लगा कर और मौन सहित वस्त्र से मुख को ढककर जिन भगवान् की पूजन करे।

श्रीयशस्तिलक में भगवत्सोमदेव भी यों ही लिखते हैं किः-

उदङ्मुखं स्वयं तिष्ठेत्प्राङ्मुखं स्थापयेज्जिनम् ।
पूजाक्षणे भवेन्नित्यं यमी वाचंयमक्रियः ॥

अर्थात्—यदि जिन भगवान् को पूर्वमुख स्थापित किये हों तो, पूजक पुरुष को उत्तरदिशा की ओर मुख करके पूजन करनी चाहिये। पूजन के समय मौनी रहने की आज्ञा है।

श्रीवामदेव महर्षि भावसंग्रह में भी इसी तरह लिखते हैं:—

पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता होय देवपूजाय ।
कायव्वा भत्तिए सावयवग्गेण परमाय ॥
पासुयजलेण ण्हाइय णिव्वसियवच्छायगंपितं ठाणे ।
इरियावहं च सोहिय उवविसड पडिमआसणं ॥

अर्थात्—श्रावकों के लिये सब से पहला पुण्य का कारण जिन भगवान् की पूजन करना कहा है। इसलिये श्रावकों को भक्ति पूर्वक पूजन करनी चाहिये। वह पूजन, पहले ही पवित्र जल से स्नान करके और वस्त्र को पहर कर पद्मासन से करनी चाहिये।

इसी तरह पंडित वखतावर मल जी का भी अनुवाद हैः—

श्रावगवर्गहि जानि प्रथम सुकारण पुण्य को ।
जिनपूजा सुखदानि भक्तियुक्त करिवो कह्यौ ॥

प्रासुक जल तें न्हाय वस्त्रवेदि मग निरखते ।
प्रतिमासन करि जाय बैठि पूज जिन की करहु ॥

इत्यादि शास्त्रों के अवलोकन से यह नहीं कहा जा सकता कि बैठकर पूजन करना ठीक नहीं है। और जो लोग बैठकर पूजन करने में अविनय बताकर उसका निषेध करते हैं मेरी समझ के अनुसार वे बैठी पूजन में अविनय बताकर स्वयं अविनय करते हैं ऐसा कहने में किसी तरह की हानि नहीं है। किसी विषय के निषेध अथवा विधान का भार महर्षियों के बचनों पर है इसलिये उसी के अनुसार चलना चाहिये। यही कारण है कि आचार्यों ने कन्दमूल, मांस, मद्य और मदिरा आदि वस्तुओं का सेवन पाप जनक बतलाया है उसके विधान का आज कोई साहस नहीं कर सकता। फिर यही श्रद्धा अन्य विषयों में भी क्यों नहीं की जाती? वह आचार्यों की आज्ञा नहीं है ऐसा कहने का कोई साहस करेगा क्या? नहिं नहिं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब महर्षियों के बचनों में किसी तरह भी असत्कल्पनाओं की संभावना नहीं कही जा सकती तो फिर उन्हीं के अनुसार हमें अपनी बिगड़ी हुई प्रवृत्ति को सुधारनी चाहिये। यही प्राचीन मुनियों के उपकार के बदले कृतज्ञता प्रगट करना है। इसविषय की एक कितनी अच्छी श्रुति है उसपर ध्यान देना चाहियेः—

न जहाति पुमान्कृतज्ञतामसुभङ्गेऽपि निसर्गनिर्मलः ।

अर्थात्—प्राणों के नाश होने पर भी स्वभाव से पवित्र पुरुष कृतज्ञता को नहीं छोड़ते हैं। इसी उत्तम नीति का प्रत्येक पुरुष को अनुकरण करते रहना चाहिये।

श्राद्ध निर्णय

ब्राह्मण लोग मरे हुवे पुरुषों का श्राद्ध करते हैं। अर्थात् जिस दिन अपने माता पितादि कुटुम्बी जनों का परलोक गमन होता है प्रायः वर्षभर में उसी दिन तीर्थादिकों में जाकर मृत पुरुषों के नाम पिंड दान करते हैं और उस से उनकी तृप्ति होना मानते हैं। यह विधान ब्राह्मणों में उनके शास्त्रानुसार है। वे लोग जैसा कुछ माने अथवा करें हम उस में हस्ताक्षेप नहीं कर सकते और न करने हुये को रोक सकते हैं। परन्तु आज जैन शास्त्रानुसार श्राद्ध विषय पर विचार करना है इसलिये ब्राह्मणों का कथन पहले लिखना उचित समझा गया। जिस तरह श्राद्ध का करना ब्राह्मण लोगों में प्रचलित है उस तरह न जैन समाज में इसकी प्रवृत्ति है और न जैन शास्त्रों की आज्ञा है। परन्तु श्राद्ध शब्द का व्यवहार किसी विशेष विषय के साथ में लगा हुआ है उसेही श्राद्ध कहते हैं। इसी शब्द के नाम मात्र से हमारे कितने महानुभाव विना उस पर पूर्ण विचार किये एक दम इसे मिथ्यात्व का कारण कल्पना करने लगते हैं। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि जैन शास्त्रों के कथन को न देख कर किसी विषय के सम्बन्ध में कठोर निरीक्षण करने केलिये उनका दिल कैसे अभिमुख होता होगा ? यदि केवल नाम मात्र के उच्चारण करने पर दोष की सम्भावना करली जाय तो हमारा कहना है कि जिस तरह हम लोग अहिंसा धर्म के मानने वाले हैं उसी तरह ब्राह्मण लोग भी हैं अथवा

नरक, स्वर्ग मोक्ष आदि की जिस तरह हम कल्पना करते हैं उसी तरह वे भी करते हैं परन्तु इन सब उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में मार्गभेद अत्यन्त भिन्न देखा जाता है । वे अहिंसा का और ही स्वरूप प्रतिपादन करते हैं और हमारे शास्त्रों में कुछ और ही स्वरूप है । इसी तरह नरक, स्वर्ग, मोक्ष का भी पृथक २ स्वरूप वर्णन है । परन्तु उनके नामोच्चारण में तो कुछ भेद नहीं देखा जाता तो क्या इन सब को एक ही रज्जू से जकड़ देना योग्य तथा समीचीन कहा जा सकेगा ? नहिं नहिं । इसलिये श्राद्ध के नाम मात्र को लक्ष्य बनाकर उसके कर्तव्य पर ध्यान न देना यह बात हास्यास्पद के योग्य है ।

मेरी समझ के अनुसार जैन शास्त्रानुकूल यदि श्राद्ध की प्रवृत्ति की जाय तो कुछ हानि नहीं है और न किसी को शास्त्र विहित श्राद्ध से अरुचि होगी ऐसा भी विश्वास है । शास्त्रों में श्राद्ध का लक्षण इस तरह किया गया हैः—

श्रद्धया दीयते दानं श्राद्धमित्यभिधीयते ।

अर्थात्—भक्ति पूर्वक दान देने को श्राद्ध कहते हैं । यही उपर्युक्त लक्षणानुसार श्राद्ध विषय सदोष कहा जा सकेगा क्या ? नहिं नहिं । यह लक्षण निराबाध है और न इससे जैन शास्त्रों में किसी तरह विरोध आता है प्रत्युत कहना चाहिये कि दान का देना तो श्रावकों का प्रधान और नित्यकर्म है । पद्म-नन्दि महर्षि कहते हैं किः—

देवपूजा गुरोर्भक्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थात्—श्रावकों के नित्य छह कर्मों में दान भी एक प्रधान

कर्म है। इसेही जैनाचार्य श्राद्ध कहते हैं । इसलिये ब्राह्मण लोगों के कथनानुसार श्राद्ध को बेशक मिथ्यात्व का कारण मानना चाहिये। किन्तु जैन शास्त्रों के अनुसार तो इस विषय की तरफ प्रवृत्ति करनी चाहिये। और साथ ही जो लोग इसके नाम से विमुख हो रहे हैं उन्हें जैन शास्त्रों का आशय समझा कर सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करते रहना भी योग्य है।
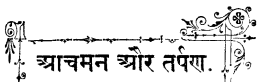
आचमन और तर्पण.

आचमन और तर्पण का काम प्रायः सन्ध्या वन्दन तथा जिन पूजनादिका में पड़ता रहता है। इन विधियों के अनुष्ठान से शरीर शुद्धि होती है ऐसा जिनसंहिता तथा त्रिवर्णाचार आदि ग्रन्थों में लिखा हुआ है। जिस तरह श्राद्ध शब्द विवादास्पद है उसी तरह ये भी शब्द के नाम मात्र से विवादास्पद माने जाते हैं। परन्तु शास्त्रों में जगहँ २ आचमनादिकों का वर्णन देखा जाता है। ये आचमनादि जितनी क्रियायें शास्त्रों में लिखी हुई हैं वे सब केवल वहिः शुद्धि के लिये लिखी गई हैं। क्योंकि जबतक वहिः शुद्धि नहीं की जाती है तब तक गृहस्थ देव पूजनादि सत्कार्यों का अधिकारी नहीं हो सकता। यही कारण है कि आज जैनियों में दन्तधावनादिकों का प्रचार विल्कुल उठजाने से लोग यहां तक उद्गार निकालने लगे हैं कि " जैनी लोग बड़ी मलीनता से रहते हैं जो कभी उन्हें तुच्छ लकड़ी भी दतोन के लिये नहीं मिलती " इत्यादि । देखो ! इन छोटी २ बातों का ही आज प्रचार उठ जाने से कितने कलंक के

पात्र होना पड़ता है। इसे वेही लोग विचारें जो लौकिक विधि को मिथ्यात्व की कारण बताते हैं।

श्री भगवत्सोमदेव का इस विषय में कहना है:—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्नयत्र न व्रतदूषणम् ॥

अर्थात्—जिस विधि के स्वीकार करने से नतो सम्यक्त्व में किसी प्रकार की बाधा पहुंचे और न अंगीकार किये हुवे वृतों में दोष आकर उपस्थित हो ऐसी सम्पूर्ण लौकिक क्रियायें जैनियों को प्रमाण मानने में किसी तरह की हानि नहीं है। जब आचार्यों की इस तरह आज्ञा मिलती है तब वहिः शुद्धि के लिये लौकिक क्रियाओं का ग्रहण करना किसी तरह अनुचित नहीं कहा जा सकता।

आचमन के सम्बन्ध में पूजासार में यों लिखा है:—

आचम्य प्रोक्ष्य मंत्रेण गुर्वर्घ्यं तर्पणं चरेत् ।
एवं मध्याह्नसायाह्नेऽप्यार्यः शौचं समाचरेत् ॥

मंत्र पूर्वक आचमन, शिरका सिञ्चन और पञ्च परमेष्ठी का तर्पण करना चाहिये। इसी तरह प्रातः काल, मध्याह्न काल और सायं काल में भी शौच क्रिया उत्तम पुरुषों को करनी चाहिये।

तथा भद्रबाहु स्वामी ने संहिता में आचमन तर्पणादि को नित्य कर्म बतलाया है:—

अथ चातुर्वर्णीयानां सांसारिकजन्मजरादिदुःख-कम्पितानां सद्धर्म्मश्रवणं धर्मः श्रेय इति सर्वसम्मतम्। धर्मश्च

दयामूलः । सा च निष्कारणपरदुःखप्रहाणेच्छा । एकेन्द्रियादिस्थावरत्रसानां निस्पृहतयाऽभयदानं वा तच्च प्रयत्न कृतक्रिया हेतुकः । ताश्च द्विविधा नित्या नैमितिकाश्च । आद्यास्तु शय्योत्थानसामायिकमलोत्सर्गदन्तधावनस्नान सन्ध्यातर्पणयजनादिका । नैमित्तिकाश्चाऽष्टाह्निकसर्वतोभद्र शान्तिप्रतिष्ठादिमहोत्सवरूपाति ।

अर्थात्—संसार संबन्धी जन्म, जरा, रोग, शोक, भयादि अनेक प्रकार के असह्य दुःखों से कम्पित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिये धर्म का श्रवण करना कल्याण का कारण है। यह हरेक धर्म वालों को माननीय है । वह धर्म दया स्वरूप है और किसी प्रकार की इच्छा न रख कर दूसरों के दुःखों के दूर करने को दया कहते हैं । अथवा पृथ्वी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय और द्विन्द्रियादि त्रसजीवों के लिये अपेक्षा रहित अभयदान का देना है । वह अभयदान प्रयत्न पूर्वक की हुई क्रियाओं का कारण है। क्रिया नित्य और नैमित्तिक इस तरह दो प्रकार की है । शय्या से उठना सामायिक का करना, शौचजाना, दन्तधावन करना, तथा स्नान, सन्ध्या आचमन, तर्पण पूजनादि कर्म करना ये सब नित्य क्रिया में गिणे जाते हैं। और अष्टान्हिक पूजन, सर्वतो भद्र तथा शान्तिविधान, प्रतिष्ठादि महामहोत्सव दूसरी नैमित्तिक क्रिया के विकल्प हैं ।

श्रीत्रिवर्णाचार में लिखा है किः—

तोयेन देहद्वाराणि सर्वतः शोधयेत्पुनः ।
आचमनं ततः कार्यं त्रिवारं प्राणशुद्धयेती ॥

आचमनं सदा कार्यं स्नानेन रहितेऽपि च।
आचमनयुतो देही जिनेन शौचवान्मतः॥

अर्थात्—पहले जल से शरीर के द्वारों को शोधन करना चाहिये फिर तीन बार आचमन करके प्राणवायु का शोधन करना योग्य है। यदि कार्य वशात् स्नान नहीं किया जाय तो भी आचमन तो अवश्य करना चाहिये। जो पुरुष आचमन करके युक्त रहता है उसे जिन भगवान् शौचवान् कहते हैं।

इत्यादि शास्त्रों के अनुसार वहिः शुद्धि गृहस्थों का सब से पहला कर्त्तव्य है। गृहस्थ लोग वहिः शुद्धि के विना देव पूजनादिकों के अधिकारी नहीं हैं इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि गृहस्थों को लौकिक क्रियाओं की कितनी आवश्यक्ता है।

इसविषय में सोमसेनाचार्य का कहना है किः—

शौचकृत्यं सदा कार्यं शौचमूलो गृही स्मृतः।
शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥

अर्थात्-बहिः शुद्धि के लिये शौचाचार सम्बन्धि क्रियाओं में हर समय उपाय करते रहना चाहिये। क्योंकि गृहस्थ शौचाचार क्रियाओं का प्रधान कारण है। जो पुरुष शौचाचार सम्बन्धि क्रियाओं से रहित रहता है उस की सम्पूर्ण क्रियायें निष्प्रयोजन समझनी चाहिये।

पाठक! इस तरह शास्त्राज्ञा के मिलने पर भी इसविषय में लोगों की कितनी उपेक्षा है कि उन्हें ये क्रियायें रुचती ही नहीं हैं। खैर! इतने पर भी वे मिथ्यात्व की कारण बतलाई जाती हैं यह कितनी अयोग्य बात है इसे बिचारना चाहिये। इतने कहने का तात्पर्य यह है कि मनमानी प्रवृति को छोड़कर शास्त्र मार्ग पर आरूढ होना चाहिये।

गोमय शुद्धि

आठ प्रकार की शुद्धि में गोमय शुद्धि भी मानी गई है। यह शास्त्र की आज्ञा है और लौकिक व्यवहार में भी दिन रात यही देखने में आता है। गोमय से भूमि की पवित्रता होती है। गोमय को छोड़ कर अपवित्र भूमि की पवित्रता कदापि नहीं हो सकती ऐसा पुराने पुरुषों का भी कहना है। परन्तु समय के फेरसे कितनों की बुद्धि इसे ठीक नहीं कहती उनका कथन है कि जिस तरह और पशुओं का पुरीष अपवित्र और अस्पर्श माना गया है इसी तरह इसे भी अपवित्र समझना चाहिये यह कौन कहेगा कि पञ्चेन्द्रियों के पुरीष में भी पवित्रता तथा अपवित्रता की कल्पना करना ठीक है। इसे पवित्र मानने वालों से हमारा यही पूछना है कि इस विषय में किस युक्ति वा प्रमाण का आश्रय लेंगे और यह बात सिद्ध कर बतावेंगे कि गोमय अपवित्र नहीं किन्तु पवित्र है?

हमारे महाशय की शंका वेशक ठीक है परन्तु यदि वे निष्पक्ष मार्ग पर चलने का संकल्प करें तो अन्यथा हमने किसी तरह समझाया भी और इनका चित्त किसी कारण से प्रतिबन्ध में ही फँसा रहा तो कहिये उस कहने से भी क्या सिद्धि होगी? इसलिये हम यह बात जानने की अभिलाषा प्रगट करते हैं कि आप निष्पक्ष दृष्टि रक्खेंगे न?

देखिये निष्पक्षता के विषय में एक ग्रन्थकार ने कहा है कि-

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

अर्थात्—न तो मेरा वीर जिनेन्द्र में पक्षपात है और न कपिलादि ऋषियों से मुझे किसी तरह द्वेष है। किन्तु यह बात अवश्य कहूंगा कि जिसके वचन युक्ति पूर्ण हों फिर चाहे वह वीर जिन हो अथवा कपिलादि मुनि, अथवा अन्य कोई उसी के बचन ग्रहण करने चाहिये। इसी तरह आप का पक्ष गोमय के निषेध में है और हमारा उसके विधान में एक तरह से दोनों ही पक्ष हैं। परन्तु इसमें जिसके वचन युक्ति और शास्त्र से मिलते हुवे हों उन्हें ग्रहण करना चाहिये।

आप का यह कहना है कि गोमय अपवित्र है मान लिया जाय कि वह अपवित्र है परन्तु यह अपवित्रता का विधान केवल दिल्ली विधान है इस लोक में तो सिवाय आप तथा आप के सहगामी सज्जनों के और कोई स्वीकार नहीं करेगा और यदि ऐसाही है तो फिर आप को भी गोमय से साफ की हुई पृथ्वी पर नहीं बैठना चाहिये। इस से परहेज करने वाले तो हमारे देखने में आजतक कोई नहीं आये ? किन्तु ऐसे लोग बहुत देखने में आये हैं जो अपने को बड़े भारी धर्मात्मा जाहिर करते हैं और इन लौकिक शुद्धियों का निषेध भी करते हैं परन्तु गोमय की बासना से वे भी बिनिर्मुक्त नहीं हो सके। अस्तु इसे जाने दीजिये हमारा व्यक्तिगत किसी से कुछ कहने का अभिप्राय नहीं है।

गोमय शुद्धि यह एक लौकिक क्रिया है। इसके करने का विधान गृहस्थों के लिये है। आचार्यों ने यह बात लिखी है कि जैनियों को सम्पूर्ण लौकिक विधि प्रमाण मानना चाहिये परन्तु वह विधि ऐसी होनी चाहिये कि जिससे अपने व्रत तथा सम्यक्त्व में हानि न हो। जब हम गोमय शुद्धि की तरफ ध्यान

देते हैं तो इसके करने से हमारे व्रतों में अथवा सम्यक्त्व में किसी तरह की हानि नहीं दिखाई देती। फिर इसके मानने में क्या दोष है ? यदि गोमय की शुद्धि के बिना हमारा काम अटका न रहता तो ठीकही था उस अवस्था में इसके न मानने में भी हमारी कोई विशेष हानि न थी। परन्तु जब इसके बिना काम ही चलता नहीं दिखाई देता फिर इतनी असहासता क्यों ?

यह बात हमारे महाशय ही बतावें कि यदि गोमय शुद्धि न मानी जावै तो भूमिकी शुद्धि किसतरह हो सकेगी कदाचित् कहो कि सर्व प्रकार की शुद्धि के लिये जल बहुत उपयोगी है परन्तु यह हमने कहीं नहीं देखा कि पुरीष आदि महा घृणित पदार्थों से अपवित्र भूमिकी शुद्धि केवल जल से ही करली जाती हो। दूसरे यह बताना चाहिये कि गोमय के विना उक्त प्रकार अपवित्र भूमिकी शुद्धि हो सकेगी उसके लिये किस शास्त्र का और किन महर्षियों का वचन है। क्योंकि इस विषय में जितनी शास्त्रों की प्रमाणता हो सकेगी उतनी युक्तियों की नहीं हो सकती। इसलिये शास्त्र प्रमाण अवश्य होना चाहिये। गोमय शुद्धि शास्त्र विहित है या नहीं इसबात को हम इसी लेख में बतावेंगे।

यदि इतने पर भी गोमय शुद्धि ध्यान में न आवे तो इसे आश्चर्य कहना चाहिये। लोक में अभी भी कितनी बातें ऐसी देखी जाती है यदि उनकी उत्पत्ति की तरफ ध्यान दिया जाय तो एक वस्तु भी ध्यान में पवित्र नहीं आ सकेगी और इसी विचार से यदि उन्हें व्यवहार में लाना छोड़ दिया जाय तो लोक में कितनी वस्तु का व्यवहार बन्द हो जाने से बहुत कुछ हानि के होने की संभावना की जा सकती है।

जिन लोगों का मत गोमय शुद्धि के विषय में संमत नहीं है क्या वे लोग हाथियों के गण्डस्थलों से पैदा हुवे मुक्ता फलों को, शुक्ति के भीतर पैदा हुवे मोती को, मृग के पेट में से उत्पन्न होने वाली कस्तूरी को, मयूर के शरीर की अवयव भूत मयूर पिच्छी को, चमरी गौ के चमरादि महा अपवित्र वस्तुओं को पवित्र कह सकेंगे ? नहिं नहिं ? और ये वस्तुएं लोक में पवित्र मानी गई हैं। कदाचित् कोई कहने लगे कि लोक से हमें क्या प्रयोजन हमें तो अपने धर्म से काम है । उसके उतर में इतना कहना ठीक समझते हैं कि जैनाचार्यों की बाबत यह बतला चुके हैं कि लौकिक विधियों के मानने में उनकी भी सम्मति है फिर इससेही गोमय शुद्धि का विधान क्यों न हो सकेगा? अंतः पर उन लोगों को और भी दृढ़ श्रद्धान कराने के लिये प्रसंग वश शास्त्रों के वचनों का भी दिग्दर्शन कराते हैं ।

श्रीचारित्रासार में महर्षि चामुंडराय यों लिखते हैं:—

तिर्यक्शरीरजा अपि गोमयगोरोचनचमरीबालमृगनाभिमयूरपिछसर्पमणिमुक्ताफलादयो लोकेषु शुचित्वमुपगता इति ।

अर्थात्—गोमय, गोरोचन, चमरीबाल, मृगनाभि (कस्तूरी), मयूरपिच्छिका, सर्प की मणि, मुक्ताफल (मोती), आदि अपवित्र वस्तुएं यद्यपि पशुओं के शरीर से पैदा होती हैं परन्तु तौ भी वे लोक में पवित्र मानी गई हैं । यहां पर यह कह देना भी अनुचित नहीं कहा जा सकेगा कि कितने लोग चमर के विषय में भी विवाद करते हैं उनका कहना है कि चमरगाय के पूंछ का नहीं होना चाहिये। परन्तु ऊपर महाराज चामुंडराय के वचनों

के देखने से यह इनका सर्वथा भ्रम जान पड़ता है। चामरों के विषय में और भी प्रमाण मिलते हैं:—

यशस्तिलक में लिखा है कि:—

> यन्नैर्मुदावभृथभाग्निरुपास्य देवं
> पुष्पाञ्जलिप्रकरपूरितपादपीठम् ।
> श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यै-
> राराधयामि पुनरेनमिनं जिनानाम् ।

अर्थात्-पुष्पों के समूह से भूषित चरण कमल युक्त जिन-देव की भक्ति पूर्वक पूजन करके फिर भी श्वेत छत्र, चमरीरुह, अर्थात् चमरी गाय के चामर और दर्पण आदि द्रव्यों से पूजन करता हूं।

भूपाल स्तोत्र में भीः—

> देवःश्वेतातपत्रत्रयचमरिरुहाशोकभाश्चक्रभाषा-
> पुष्पौघासारसिंहासनसुरपटहैरष्टभिः प्रातिहार्यैः ।
> साश्चर्यैर्भ्राजमानः सुरमनुजसभाम्भोजिनीभानुमाली
> पायान्नः पादपीठीकृतसकलजगत्पादमौलिर्जिनेन्द्रः ।

इसी तरह आदि पुराणादि ग्रन्थों में चामरों के बाबत लिखा हुआ है। और वास्तव में हैं भी ठीक। यही कारण है कि मयूर पिच्छिका मुनियों तक के काम में आती है क्या वह चामरों के समान पशुओं के शरीर से पैदा नहीं होती है ? जब ऐसा है तो फिर इन बातों को माननी चाहिये।

और भी गोमय के सम्बंध में लिखा है:—

यथा रसवती भूमिः शोध्यते गोमयेन वा ।
नवेन सद्यो जातेन तथा तीर्थजलेन च ॥
ततः पाकः प्रकर्त्तव्यः शोधनानन्तरं गृहे ।
यदा कार्यं तदाप्येवं नो चेदुच्छिष्टदूषणम् ॥

अर्थात्—जिस तरह तात्कालिक गोमय से रसोई सम्बन्धी भूमि शुद्ध की जाती है उसी तरह चौका लगाकर पीछे पवित्र जल से उसे शुद्ध करनी चाहिये इसके बाद भोजन बनाना ठीक है। ऐसा नहीं करने से उच्छिष्ट का दोष लगता है। यही गोमय शुद्धि का प्रकार है।

पाठक महोदय! गोमय शुद्धि का प्रकार तो बताचुके। अब यह और बताये देते हैं कि गोमय और कहां कहां काम में आता है। जिन भगवान् की नीराजन विधि होती है जिसे आरती भी कहते हैं। वहां पर भी गोमय उपयोग में आता है। वह इस तरह है।

श्रीइन्द्रनन्द्रि संहिता में:—

सिद्धार्थदूर्वाग्रसमग्रमङ्गलैरस्पृष्टभूमिः कपिलासुगोमयैः।
कृत्वा कृतार्थस्य महेऽवनारणं देवेन्द्रदेशे विनिवेशयामि ॥

ॐ ह्रीं क्रों दूर्वाङ्कुरसर्षपादियुक्तैर्हरितगोमयादिपिंडकै भगवतोऽर्हतोऽवतरणं करोमि दुरितमस्माकमपनयतु भगवान्स्वाहा ।

अर्थात्—दूर्वाङ्कुर, सर्षपादि मंगल द्रव्यों से युक्त हरित गोमयादिकों के पिंड से जिन भगवान् का अवतरण (नीराजन) जिसे आरती भी कहते हैं करके उसे पूर्व दिशा में स्थापित करता हूं। इस प्रकार और भी पूजन पाठ पुस्तकों में गोमय नीराजन विधि में स्वीकार किया गया है। कहीं २ गोमय का भस्म भी लिखा है

देहेऽस्मिन्विहितार्चने निनदति प्रारब्धगीतध्वना-
वातोद्यैः स्तुतिपाठमङ्गलरवैश्चा-नन्दिनि प्राङ्गणे।
मृत्स्नागोमयभूतिपिंडहरितादर्भप्रसूनाक्षतै-
रम्भोभिश्च सचन्दनैर्जिनपतेर्नीराजनां प्रस्तुवे।

यह पाठ यशस्तिलक में भगवत्सोमदेव स्वामी ने लिखा है। यह बात विचारणीय है कि गोमय लौकिक प्रवृति तथा शास्त्रानुसार तो अपवित्र नहीं कही जासकती। अब तीसरा ऐसा कोन कारण है जिससे हमारे भाई उसे ग्राह्य नहीं समझते। हां कदाचित् वे इसे पञ्चेन्द्रियों का पुरीष होने से अपवित्र कहेंगे परन्तु यह भी एक तरह भ्रमही है इसे हम पहले अच्छी तरह प्रतिपादन कर आये हैं उसे ध्यान पूर्वक विचारना चाहिये।

प्रश्न-गोमय का विषय तो हमने खूब समझ लिया परन्तु बीच में तुम चमरों के सम्बन्ध में भी कुछ आड़ी टेढ़ी कह गये हो उस पर हमारा यह कहना है तुमने चामरों को पवित्र और ग्राह्य बताये हैं परन्तु यह अनुचित है। यदि यह कहना तुम्हारा ठीक है तो फिर यह तो

कहो कि ऊन (रोम) के वस्त्रादिकों को मन्दिरादि में लेजाना भी ठीक कहना पड़ेगा ? पड़ेगाही नहीं किन्तु तुम्हारे मतानुसार तो वह योग्य कहा जाय तो कुछ हानि नहीं है ?

उत्तर-हमने गोमय और चामरों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह मन से नहीं लिखा है किन्तु जैसी महर्षियों की आज्ञा है उसी के अनुसार लिखा है यदि कहीं पर ऊनके काम में लाने का विधान हमें ग्रन्थान्तरों में मिलता तो वेशक हम उसके ग्रहण करने का उपदेश करते परन्तु जब उसका शास्त्रों में नाम निशान तक भी नहीं है फिर क्योंकर उसे ठीक समझें। यह आड़ी टेढ़ी कल्पना करना तो आप लागों का प्रधान कर्तव्य है नकि हमारा। हमतो महर्षियों के बनाये हुवे मार्ग पर चलने वाले हैं और न कभी हम स्वप्न में भी यह सम्भावना कर सकते हैं कि आचार्यों के विरुद्ध चलें। अस्तु, अब देखना चाहिये कि ऊनके सम्बन्ध में शास्त्रों में क्या उपदेश है।

त्रिवर्णाचार में जहां वस्त्रों का स्वरूप लिखा है वहीं पर यह लिखा हुआ है कि:—

रोमजं चर्मजं वस्त्रं दूरतः परिवर्जयेत् ।

अर्थात्—ऊनके तथा चर्म के बने हुवे वस्त्रों का दूसरे ही त्याग करना चाहिये। कहिये महाशय ! अबतो ऊन के विषय में आप समझें कि हमारा मत कैसा है ? कोई बात शास्त्र बिरुद्ध तो नहीं है।

प्रश्न-यह बात कितनी जगहँ कही गई है कि हम शास्त्रों के अनुसार तथा आचार्यों के अनुसार चलते हैं यदि मान-लिया जाय कि किसी जैन ग्रन्थ में कोई यह लिख देता कि प्रतिमाओं को नग्न रहने से एक तरह का विकार पैदा होता है इसलिये वस्त्र पहराना चाहिये अथवा इसी तरह और कोई अनुचित बात लिखी जाती तो वे तुम्हारे कथनानुसार प्रमाण मानी जा सकती थी? फिर तो यों कहना चाहिये कि आप लोग एक तरह से "लकीर के फकीर" अथवा "बाबा वाक्यं प्रमाणम्" इसी कहावत के चरितार्थ करने वाले हैं।

उत्तर-महोदय ! जो कुछ भी कहो हम कभी उसे बुरी नहीं कहने के हैं केवल हमें तो इस बात की परीक्षा करनी है कि यथार्थ तत्व क्या है? जैन शास्त्रों के सम्बन्ध में जो कुछ अनुचित कल्पना करें वे कभी ठीक नहीं मानी जा सकती। पहले एक दो ग्रन्थों में कभी कोई अनुचित बात बताई होती तो फिर यह भी हम ठीक मान लेते कि प्रतिमाओं को वस्त्रों का पहराना भी ठीक है। विना आधार के असंभाव्य कल्पनाओं के सम्बन्ध में इस तरह का उद्गार निकालना अनुचित है। यह तो हमें निश्चय है कि आप " लकीर के फकीर " अथवा " बाबा वाक्यं प्रमाणं " इन लोकोक्ति का स्पर्श भी नहीं करेंगे परन्तु यदि साथही " कन्द मूल के परमाणु मात्र में तथा जलकी बिन्दु में असंख्य जीवों का निवास है । स्वर्ग नर्क कोई पदार्थ विशेष हैं। दो दो अथवा इन से भी अधिक चन्द्र सूर्यो का इस भूमंडल में आवास है। पांच सो

धनुष का मनुष्यों का शरीर होता है " इत्यादि पदार्थों को उपर्युक्त कहावतों के बिना सिद्ध कर देते तो अवश्य आप के कथन का हम भी सहर्ष अनुमोदन करते और अब भी यही कहना है कि यदि उक्त कहावतों के आश्रय को छोड़ कर हमारी लिखी बातों को सिद्ध कर बतावेंगे तो बड़ा अनुग्रह होगा। अन्यथा अपने विकल्पों को छोड़ कर सीधे मार्ग में पांव रक्खो यह सब कहने का सार है।

दान विषय.

आहारशास्त्रभैषज्याऽभयदानानि सर्वतः।
चतुर्विधानि देयानि मुनिभ्यस्तत्ववेदिभिः॥

इस श्लोक के अनुसार—

जैन शास्त्रों में आहार, अभय, औषध, और ज्ञान इस प्रकार दान के चार विकल्प माने गये हैं। और वर्तमान में यदि किसी अंश में कुछ प्रचार भी है तो इन्हीं चार दानों का है। परन्तु—चर्चाके नीचे कहते हैं कि:—

विचार्य युक्तितो देयं दानं क्षेत्रादिसंभवम्।
योग्यायोग्यसुपात्राय जघन्याय महात्मभिः॥

अर्थात्—मध्यमपात्र और जघन्यपात्रादिकों के लिये युक्ति

पूर्वक विचार करके पृथ्वी, सुवर्ण, कन्या, हस्ति, और रथादिकों का दान देना चाहिये । यद्यपि शास्त्रों में कन्यादिकों के दान का निषेध है परन्तु वह ब्राह्मणों की मिथ्या कल्पना के अनुसार समझना चाहिये । जैन शास्त्रों की विधि के अनुसार देना अयोग्य नहीं कहा जासकता । जैनाचार्यों का जितना उपदेश है वह किसी न किसी अभिप्राय को लिये है। उनकी कल्पना निरर्थक नहीं हो सकती। इसे उनका पूर्ण तया माहात्म्य कहना चाहिये। जैन शास्त्रों में समदत्ति भी एक दान का विशेष प्रभेद है। उसी समदत्ति के वर्णन में इन दानों का वर्णन किया गया है।

इसी समदत्ति को कहते हुवे आदि पुराण में भगवाञ्जिनसेनाचार्य यों वर्णन करते हैं :—

समानायात्मनान्यस्मै क्रियामंत्रव्रतादिभिः ।
निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्ज्जनम् ॥
समानदत्तिरेषा स्यात्पात्रे मध्यमतामिते ।
समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्या श्रद्धयान्विता ॥

अर्थात्—क्रिया, मंत्र, व्रतादिकों से अपने समान और संसार से निवृत्ति को चाहने वाले मध्यम पात्रों के लिये कन्या सुवर्ण हाथी रथ अश्व रत्नादि वस्तुओं के यथा योग्य दान देने को समान दत्ति कहते हैं।

श्री चामुण्डराय कृत चारित्रसार में

गद्य—समदत्तिः स्वसमक्रियामन्त्राय निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदानं स्वसमानाऽभावे मध्यमपात्रस्यापिदानमिति ।

अर्थात्—संसार समुद्र के तिरने के लिये प्रयन्त शील और क्रिया मंत्र व्रतादिकों करके अपने समान हो उसके लिये कन्या पृथ्वी सुवर्ण हाथी घोड़ा रथ और रत्नादिकों का दान देना चाहिये। यदि क्रिया मंत्रादिकों करके अपने समान का सम्बन्ध न मिले तो मध्यम पात्रों को उक्त प्रकार दान देना चाहिये।

श्री सागार धर्मामृत में लिखा है कि—

निस्तारकोत्तमायाथ मध्यमाय सधर्मणे ।
कन्याभूहेमहस्त्यश्वरथरत्नादि निर्वपेत ॥

अर्थात्—संसार समुद्र के तिरने के लिये उपाय करने में प्रयत्न शील और क्रिया व्रत मंत्रादिकों करके अपने तुल्य अथवा इनकी अविद्यमानता में मध्यम पात्रों को कन्या भूमि सुवर्ण हस्ती घोड़ा और रथ इत्यादि वस्तुओं का दान उनकी ठीक स्थिति के लिये अर्थात् संसार सम्बन्धी व्यवहार उनका अच्छी तरह निर्वाह होता रहे इसलिये देना चाहिये।

धर्मसंग्रह में यों कहा है:—

त्रिशुद्धया गृहिणा तस्मद्वांछताऽऽहितमात्मनः ।
दीयतां सकलादत्तिरियं सर्वसुखप्रदा ॥
कुलजातिक्रियामंत्रैः स्वसमाय सधर्मिणे ।
भूकन्याहेमरत्नाश्वरथहस्त्यादि निर्वपेत् ॥
निरन्तरेहया गर्भाधानादिक्रियमंत्रयोः ।
व्रतादेश्च सधर्मेभ्यो दद्यात्कन्यादिकं शुभम् ॥
निस्तारकोत्तमं यज्ञकल्पादिज्ञं वुमुक्षुकम् ।
वरं कन्यादिदानेन सत्कुर्वन्धर्मधारकः ॥

दात्रा येन सती कन्या दत्ता तेन गृहाश्रमः ।
दत्तस्तस्मै त्रिवर्गेण गृहिण्येव गृहं यतः ॥

अर्थात्—अपने कल्याण की इच्छा करने वाले गृहस्थों को मन वचन काय की शुद्धि से सर्व सुखों को देने वाली सकला-दत्ति का दान देना चाहिये। कुल जाति क्रिया और मंत्रों से अपने समान सधर्मी पुरुषों को पृथ्वी कन्या सुवर्ण रत्न घोड़ा और हाथी इत्यादि वस्तुओं का दान देना चाहिये।

निरन्तर गर्भधानादिक क्रिया मंत्र और व्रतादिकों की इच्छा से समान धर्मी पुरुषों के लिये कन्यादि वस्तुओं का शुभ दान देना योग्य है। संसार समुद्र के पार होने में उद्योग युक्त और प्रतिष्ठादि विधियों को जानने वाले पुरुषों का कन्यादि वस्तुओं से सत्कार करने वाला धर्म का धारक कहलाने योग्य होता है। जिसने अपनी पवित्र कन्या का दान दिया है कहना चाहिये कि उसने धर्म अर्थ और काम से युक्त गृहस्थाश्रम ही दिया है। क्योंकि गृहिणी अर्थात् स्त्री को ही तो घर कहते हैं।

सत्कन्यां ददता दत्तः सत्रिवर्गो गृहाश्रमः ।
गृहं हि गृहिणीमाहुर्नकुडचकटिसंहतिम् ॥

अर्थात्—सत्कन्या को देने वालों ने धर्म अर्थ और काम सहित गृहाश्रम को दिया। यही कारण है कि गृहणी को ही घर कहते हैं। लकड़ी मिट्टी के समुदाय को नहीं कहते।

तथा त्रिवर्णाचार में कहा है किः—

चैत्यालयं जिनेन्द्रस्य निर्माप्य प्रतिमां तथा ।
प्रतिष्ठां कारयेद्धीमान्हेमैः संघन्तु तर्पयेत् ॥

पूजार्यै तस्य सत्क्षेत्रग्रामादिकं प्रदीयते ।
अभिषेकाय गोदानं कीर्तितं मुनिभिस्तथा ॥
शुद्धश्रावकपुत्राय धर्मिष्ठाय दरीद्रिणे ।
कन्यादानं प्रदातव्यं धर्मसंस्थितिहेतवे ॥
श्रावकाचारनिष्ठोऽपिदरीद्री कर्मयोगतः ।
सुवर्णदानमाख्यातं तस्मादाचारहेतवे ॥
निराधाराय निष्पापश्रावकाचाररक्षणे ।
पूजादानादिकं कर्तुं गृहदानं प्रकीर्त्तितम् ॥
पञ्चर्यां गन्तुमशक्ताय पूजामंत्रविधायिने ।
तीर्थक्षेत्रसुयात्रार्यै रथाश्वदानमुच्यते ॥
भट्टारकाय जैनाय कीर्त्तिपात्राय कीर्त्तये ।
हस्तिदानं परिप्रोक्तं प्रभावनाङ्गहेतवे ॥
दुर्घटे विकटे मार्गे जलाशयविवर्जिते ।
प्रपास्थानं परं कुर्याच्छोधितेन सुवारिणा ॥
अन्नवस्त्रं यथाशक्तिः प्रतिग्रामं निवेशयेत् ।
शैत्यकाले सुपात्राय वस्त्रदानं सतूलकम् ॥
जलादिव्यवहाराय पात्राय कांस्यभाजनम् ।
महाव्रतीयतीन्द्राय पिच्छं चापि कमंडलुम् ॥
जिनगेहाय देयानि पूजोपकरणानि वै ।
पूजामंत्रविधेष्टाय पण्डिताय सुभूषणम् ॥

अर्थात्—जिन मन्दिर और जिन प्रतिमाओं को बनवाकर

उनकी प्रतिष्ठा करानी चाहिये। और सुवर्णादिकों से संघ को अच्छी तरह धर्म बुद्धि पूर्वक सन्तोषित करना योग्य है। जिन भगवान्के अभिषेकादि कार्यों के लिये गौ का दान देना चाहिये। धर्म की स्थिति बनी रहे किसी कारण से धर्म कार्यों में विघ्न न आवे इस अभिप्राय से दरिद्री धर्मात्मा शुद्ध श्रावक पुत्रों के लिये कन्यादान देना अत्यन्त परोपकार का कारण है। यहां पर कन्यादान का प्रयोजन कन्या का देदेना नहीं समझना चाहिए। किन्तु इसका यह तात्पर्य है कि कदाचित् कर्म योग से कोई श्रावक पुत्र दरिद्री है किन्तु वास्तव में अत्यन्त धर्मात्मा है तो यथा धर्म पद्धत्यनुसार उसका विवाह करना चाहिये। जिस तरह श्रावकाचार का मार्ग है उसी तरह उसका पालन करने वाला है परन्तु पाप कर्मों के परिपाक से बिचारा दरिद्री अर्थात् धन से रहित है तो श्रावक लोगों का प्रधान कर्त्तव्य है कि उसके धर्माचार की स्थिति के लिये स्वर्णादि द्रव्यों का दान दें जिस से उसको संसार सम्बन्धि किसी तरह की आकुलता नहो और धर्म का सेवन निर्विघ्न चलता रहे। वास्तव में यह बात है भी ठीक जो लोग दरीद्री होते हैं संसार में उनकी बड़ी ही दुर्दशा होती है। उन्हें कण कण के लिये दूसरों का मुंह ताकना पड़ता है चारों ओर बिचारों का तिरस्कार होता है। जहाँ जाते हैं वहां इतनी बुरी दृष्टि से देखे जाते हैं कि जिसके लिखने को लेखनी कुंठित होती है। यह बात उनसे पूछिये जिन्हें इस दरीद्र व्याघ्र का सिकार बनना पड़ा है। इसी से कहते हैं कि जैन महर्षियों की बुद्धि की अद्वितीय शक्ति है। उन्हांने श्रावकों को यह पहले ही उपदेश कर दिया कि देखो अपने भाईयों की खबर कभी मत भूलना इसी उपदेश से यह

भी प्रादुर्भवित होता है कि उन्हें जातीय वात्सल्य भी बड़ा भारी था। जिससे वे अपनी आँखों से अपनी जाति को कभी दुःखी देखने की इच्छा नहीं रखते थे। परन्तु हाय आज कहाँ वह बात? अब तो एक का एक दुश्मन है एक का एक विघ्न करता है। ठीक यह कहावत जैन जाति पर घट रही है कि "काल के फेरसों सुमेरु होत माटी को" किसी समय जैन जाति उन्नति के शिखर पर थी आज वह रसातल निवासिनी होने की चेष्टा कर रही है तो आश्चर्य ही क्या है? पाठक प्रसङ्ग ही ऐसा आपड़ा इसलिये दश पाँच पंक्ति विषयान्तर पर भी लिख डाली हैं परन्तु यदि आप लोग उन पर कुछ भी उपयोग देंगे तो वे ही पंक्तियें बहुत कुछ अंश में लाभ दायक ठहरेंगी। इसी अभिप्राय से उनका लिखना उचित समझा है। मैं आशा करता हूँ कि वे आप को अश्राव्य न होंगी। आश्रय करके सहित और पाप रहित श्रावकाचार का यथोक्त रीति से पालन करने वालों के लिये जिन भगवान की पूजन तथा दानादि सत्कर्मों के करने को गृह का दान देना उचित है। तात्पर्य यह है कि जबतक धर्मात्मा पुरुषों की ठीक तरह स्थिति न होगी तबतक उन्हें निराकुलता कभी नहीं हो सकती और इसी आकुलता से इनके धर्म कार्यों में सदैव बाधायें उपस्थित होती रहेंगी। इसलिये धर्म कार्यों के निर्विघ्न चलने के प्रयोजन से गृह दान के देने का उपदेश है। जो लोग जिन भगवान की पूजन तथा मंत्र विधानादि करने वाले हैं परन्तु विचारे अशक्त होने से पावों से गमन करने को असमर्थ हैं तो उनके लिये तीर्थ क्षेत्रादिकों की यात्रा करने के लिये रथ का अथवा अश्वादि वाहनों का दान देना बहुत आवश्यक है।

जिनमत में यद्यपि भट्टारकों का सम्प्रदाय प्राचीन नहीं है और न शास्त्र विहित है परन्तु किसी कारण विशेष से चल पड़ा है। भट्टारकों के द्वारा कितनी जगहँ जिन धर्म का अनिर्वचनीय उपकार हुआ है अर्थात् यों कहो कि जिस समय से परीक्षा प्रधानियों की प्रबलता होने लगी और दिनों दिन मुनिसमाज रसातल में पहुँचने लगा उस समय में जैनधर्म पर आई हुई आपत्तियों का सामना करके उसे इन्हीं भट्टारक लोगों ने निर्विघ्न किया था इसलिये उनका उपकारकत्व की अपेक्षा से यथोचित सन्मान करना चाहिये। इसी से ग्रन्थकार कहते हैं कि कीर्त्ति के प्रधान पात्र जैन भट्टारक लोगों के लिये अपनी कीर्त्ति चाहने वालों को हाथी का दान देना उचित है। जिस जगहँ नदी बापिका, सरोवरादि रहित, अत्यन्त दुर्घट, विकट मार्ग हो ऐसी जगह शुद्ध जल के पीने का स्थान जिसे प्रचलित भाषा में "पो" कहते हैं बनाना चाहिये। और यथा शक्ति जितना हो सके उसी माफिक अन्नक्षेत्र (भोजनशाला) खोलनी चाहिये जिससे दीन, दुःखी, दरीद्री, पुरुषों को भोजनादि दिये जाते हों तथा शीतकाल में अच्छे पात्रों को तूल सहित वस्त्रों का दान देना योग्य है।

जल पीने के लिये तथा भोजनादि व्यवहार के लिये कांशी वगैरह के पात्र देना चाहिये। महाव्रत के धारण करने वाले मुनियों के लिये कमण्डलु तथा पिच्छिकादि देना योग्य है। तथा जिन मन्दिरों में पूजनादि कार्यों के लिये अनेक तरह के उपकरण, और पूजन प्रतिष्ठादि मन्त्र विधियों के कराने वाले पण्डितों के लिये भूषणादि देना चाहिये। जिन शास्त्रों में देखोगे उन सब में इसी तरह आज्ञा मिलेगी।

पाठक ! विचारें कि इस तरह दान के विषय को प्रवृत्ति में लाने से जैन सिद्धान्त को किसी तरह बाधा पहुँच सकेगी क्या? मेरी समझ के अनुसार इस विषय के प्रचार की हमारी जाति में बड़ी भारी आवश्यक्ता है। यही कारण है कि आज जाति से इस पवित्र विषय को रसातल में अपना निवास जमा लेने से इस पवित्र और पुण्यशाली समाज के कितने तो लोग पापी पेट की पीड़ा से पीड़ित होकर यम के महमान बने जा रहे हैं। कितने निराश्रय बिचारे अन्न के एक एक कण के लिये त्राहि त्राहि की दिनरात आहें भर रहे हैं । उस पर भी फिर यह भयानक दुर्भिक्ष का धड़ाधड़ जारी होना। कितने इस भयानक भस्मवन्हि की शान्ति के न होने से गलियों में पाँवो की ठोकरों से टकराते फिरते हैं । कितने विचारे सर्वतया असमर्थ हो जाने पर अनेक तरह बुरे उपायों के द्वारा अपनी जीवन यात्रा का निर्वाह करने लगते हैं। ठीक भी है "मरता क्या न करता"

पाठक महोदय ! आप जानते हैं न ! यह वही जाति है जिस में पुण्य की पराकाष्ठा के उदाहरण तीर्थंकर भगवान् अवतार लेते हैं । यह वही जाति है जिस में भरत चक्रवर्ती सरीखे तेजस्वी पैदा हुवे थे परन्तु खेद ! आज उसी जाति के मनुष्यों की यह अवस्था है जो दिन रात त्राहि त्राहि की पुकार में बीतती है। भगवति वसुन्धरे! ऐसे अवसर में जाति के लोगों को तो नतो अपने भाईयों की दशा की दया है और न जाति में विद्या प्रचारादि सद्गुणों की खबर है इसलिये अब तुम्हीं इन दुःखियों के लिये अपना मुख विवर फाड़ दो जिससे ये विचारे उसी में समाजायँ और सदा के लिये जगत से अपने नाम को उठालें। अथवा अय गगन मण्डल! जबतक महा देवी

वसुन्धरा इसकार्य के लिये बिलम्ब करती है तबतक तुम्हीं अपने किसी एक वज्रखंड को गिराकर उन दीन दुःखियों का उपकार कर दो। अधिक कहाँ तक लिखें यह लेखनी भी हाथ से गिरती हुई जान पड़ती है अस्तु। फिर भी रहा नहीं जाता इसलिये और कुछ नहीं तो एक श्लोक और भी लिखे देते हैं जिससे हमारे भाईयों को जाति की अवस्था का भी कुछ ख्याल हो:—

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥

बस! देखते हैं अब कौन अपना नाम जाति के उपकार सम्बन्धी कार्यों के करने में पहले लिखवाते हैं। "दशदान" का विषय अनेक शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा सिद्ध करके आप लोगों के सामने सादर समर्पित करते हैं इसका प्रचार बढ़ाना अथवा और भी इसे रसातल में घसकाना ये दोनों बातें आपके हाथ में हैं जैसा उचित समझें वैसा अनुष्ठान में लावें। कीर्त्ति तथा अकीर्त्ति को वह स्वयं संसार में प्रसिद्ध करदेगा।

यन्तु:—

अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रवः ।
तत्तत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्त्तिमर्जयेत् ॥

अर्थात्—संसार में अकीर्त्ति के फैलने से चित्त को एक तरह का सन्ताप होता है और उसी सन्ताप से खोटे कर्मो का आस्रव आता है। इसलिये चितको प्रसन्न करने के लिये तथा अपने कल्याण के लिये मनुष्यों को कीर्ति का सम्पादन करना चाहिये। यह नीति का मार्ग है।

जिस विषय को लिखने का हम विचार करते हैं वह विषय हमारे पाठकों को आश्चर्य का कारण जान पड़ेगा ऐसा हमारा आत्मा साक्षी देता है। इस विषय पर आधुनिक विद्वानों का बिल्कुल लक्ष्य नहीं है। खैर ? आधुनिक विद्वानों को जाने दीजिये सो पचास वर्ष पहिले के विद्वानों का भी इस विषय पर औदासीन्य भाव देखा जाता है। इसके सिद्ध करने के लिये उन विद्वानों के बनाये हुवे भाषा ग्रन्थों का ही स्वरूप ठीक कहा जासकेगा। उन लोगों ने सैकड़ों संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों की भाषा बना डाली परन्तु किसी विद्वान ने अपने बनाये हुवे ग्रन्थों में इस विषय का आन्दोलन नहीं किया इसका कारण हम उनकी उपेक्षा बुद्धि को छोड़कर और क्या कह सकते हैं। एक उपेक्षा तो वह होती है जैसे अन्यमतियों की पुस्तकों को देखने के लिये दिल गवाही नहीं देता इसलिये उनका पठन पाठन रुचिकर नहीं होता। दूसरी उपेक्षा जैन शास्त्रों के विषय में कह सकते हैं इसका कारण यह कहा जा सकता है कि जिन विषयों में उनका मत अभिमत नहीं था इसी कारण उन विषयों के उपर लक्ष नहीं दिया है। यह प्रकरण अन्यमतियों के शास्त्रों का तो नहीं है इसलिये यही कहा जा सकेगा कि उक्त विषय में उन विद्वानों की अभिमत नहीं था। इस का कारण क्या है यह मैं नहीं कह सकता इसे हमारे विचार शील पाठक स्वयं अनुभव में ले आवें।

मैं जहां तक विचार करता हूं तो मेरे ध्यान में जैन जाति के अवनति की कारण प्रकृत विषय की उपेक्षा ही हुई है। इस बात को आबाल वृद्ध कहेंगे कि कोई काम हो वह समयानुकूल होना चाहिये असमय में किये हुवे काम से जितनी अभिलषित अर्थ की इच्छा की जाती है वह उस प्रकार न होकर कहीं उससे अधिक हानि की कारण भूत पड़जाती है यही कारण है कि आज जैन समाज भी इसी दशा से आर्त दिखाई पड़ता है। यदि मुनि अवस्था में रहकर गृहस्थ धर्म का आचरण किया जाय तो उसे कोई ठीक नहीं कहेगा उसी तरह गृहस्थ अवस्था में रहकर मुनियों कैसा आचरण करे तो वह निन्दा का ही पात्र कहा जा सकेगा। इसीलिये राजर्षि शुभचन्द्राचार्य ने गृहस्थों को कई कारणों का अभाव रहने में ध्यानादिकों की सिद्धिका निषेध किया है निषेध ही नहीं किन्तु गृहस्थों को अनधिकारी भी बतलाये हैं वह कथन इस तरह है-

न प्रमादजयः कर्तुं धीधनैरपि पार्यते ।
महाव्यसनसंकीर्णे गृहवासेऽतिनिन्दिते ॥
शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः ।
अतश्चित्तं प्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहस्थितिः ॥
प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्तचेतसां
नृणां दुराशागृहपीडितात्मनाम् ।
नितम्बिनीलोचनचौरसंकटे
गृहाश्रमे नश्यति स्वात्मनो हितम् ॥

निरन्तरार्त्तानलदाहदुर्गमे
कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने ।
अनेकचिन्ताज्वरजिम्हितात्मनां
नृणां गृहे नात्महितं प्रसिध्यति ॥

हिताहितविमूढात्मा स्वं शश्वद्वेष्टयेद्गृही ।
अनेकारंभजैः पापैः कोशकारकृमिर्यथा ॥

जेतुं जन्मशतेनापि रागाद्यरिपताकिनी ।
विनासंयमशास्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते ॥

प्रचण्डपवनैः प्रायश्चाल्यते यत्र भूभृतः ।
तत्राऽऽङ्गनादिभिः स्वान्तं निसर्गतरलं न किं ॥

खपुष्पमथवाशृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देशकालेपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥

अर्थात् अनेक तरह की आकुलतादिकों से व्याप्त और अत्यन्त निन्दित गृहवास में बड़े बड़े बुद्धिमान् लोग प्रमाद के जीतने को समर्थ नहीं होते हैं इसीकारण गृहस्थ लोग अपने चंचल मन को बश करने में निःशक्त कहे जाते हैं। यही कारण है कि इस संसार के सन्ताप से पीडित अपने आत्मा की शान्ति के लिये उत्तम पुरुष गृहस्थिति को तिलाञ्जली देते हैं। इसी से कहते हैं कि जो लोग हर समय अनेक तरह की आपत्तियों से घिरे हुवे रहते हैं तथा खोटी आशा रूप पिशाच से पीडित हैं उन्हें अङ्गनाओं के लोचन रूप चोरों से भरे हुवे गृहाश्रम में अपने आत्महित की सिद्धि कभी नहीं होती। निरन्तर दुःखा-

मिके सन्ताप से दुष्प्रवेश और विषयादि सम्बन्धि खोटी वासना रूप गाढ़ान्धकार से जिस में मनुष्यों के नेत्रोंपर एक तरह का परदा पड़ जाता है वैसे गृहाश्रम में हजारों प्रकार की चिन्ताज्वर से आत्मा को कुटिल करने वाले गृहस्थों को ध्यान की सिद्धि हो जाना आश्चर्य जनक है आश्चर्य जनक ही नहीं किन्तु अत्यन्त असंभव कहना चाहिये। संसारी लोग अनेक तरह के विषयादि जन्य आरंभों से हित तथा अहित के विचार से रहित अपनी आत्मा को व्याप्त करते हैं जिस तरह मकड़ी अपने को तन्तुओ से व्याप्त करती है । जिन लोगों के पास संयम अर्थात् मुनिव्रत का धारण करना रूप शास्त्र नहीं हैं वे लोग सो जन्म पर्यन्त भी आत्मस्वरूप के घात करने वाले रागादि शत्रुओं की सेना को जीतने के लिये अपनी सामर्थ्य कभी नहीं प्रगट कर सकते। जिस प्रवल काल की प्रचण्ड वायु से बड़े २ उन्नत पर्वत क्षणमात्र में तीन तेरह हो जाते है तो स्त्रियों के सम्बन्ध से स्वभाविक चंचल मन नहीं चलेगा क्या? राजर्षि शुभ चन्द्र इस बात को जोर के साथ में कहते हैं कि चाहे किसी काल में आकाश के पुष्प तथा गधे के सींग यदि संभव भी मान लिये जावें तो भले हो परन्तु गृहस्थों को ध्यान की सिद्धि किसी देश में तथा किसी काल में भी ठीक नहीं मान सकते।

पाठक महाशय! देखी न? महाराज शुभ चन्द्रजी की प्रतिज्ञा। क्या कभी आप इसके विरुद्ध स्वप्न में भी कल्पना कर सकते हैं कि गृहस्थों को ध्यान की सिद्धि होगी? नहिं नहिं। और यह बात है भी ठीक क्योंकि गृहस्थों को जब निरन्तर अपने गृह जंजालों से ही छुटकारा नहीं मिलता फिर अत्यन्त दुष्कर ध्यान सिद्धि उनके भाग्य में कहा से लिखी मिलेगी?

परन्तु आज तो राजर्षि के कथन विरुद्ध अपनी जाति में अनुष्ठानों का उपक्रम देखते हैं कहिये अब हम यह कैसे न कहें कि यह हमारा पूर्ण नाश का कारण तथा दौभाग्य नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य रयणसारमें कहते हैं कि—

दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मं असावगो तेण।
विण झाणझयणमुक्खं जइ धम्मं तं विणा सोवि॥

अर्थात् गृहस्थों का दान पूजनादिकों को छोड़ कर और कोई प्रधान धर्म नहीं है। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि गृहस्थों को अपने दान पूजनादिकों मेंही निरत रहना चाहिये। उपदेश तो यह था परन्तु कालके परिवर्तन को देखिये कि ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जिन्हें गृहस्थ धर्म पर गाढ़ श्रद्धाहो और ऐसे बहुत देखने में आवेंगे जिनका यह श्रद्धान है कि एक तरह से जिन भगवान् की पूजन प्रतिष्ठादिक भी शुभ राग के कारण होने से हेय हैं अर्थात् यों कहना चाहिये कि जिस तरह एक कारागृह ऐसा है कि जिस में निरन्तर दुःख सहन करने पड़ते हैं और एक ऐसा है कि जिस में सुखोंका अभिनिवेश है परन्तु प्रतिबंध की अपेक्षा दोनोंको कारागृह कहना पड़ैगाही यही अवस्था शुभराग तथा अशुभ रागकी समझनी चाहिये। एक तो पापकी निवृत्तिका कारण होने से स्वर्गादिकों के सुखोंकी कारण है। एक में पापकी प्राचुर्यता होने से नरकादिकों की कारण है परन्तु कही जायेंगी दोनों रागही। और रागही आत्मलब्धि केलिये प्रतिबन्ध स्वरूप है।

इसलिये निश्चय की अपेक्षा दोनों त्याज्य कही जायेंगी

इत्यादि । इसी तरह का श्रद्धान है और इसी श्रद्धान के अनुसार कार्य में भी परिणत होते प्रायः देखे जाते हैं । हमने बहुत से अध्यात्म मण्डली के विद्वानों को देखे हैं परन्तु उनमें ऐसे बहुत कम देखे हैं जिन्हें जिन भगवान् की पूजनादि विधियों में वास्तविक गृहस्थ धर्मानुसार प्रेमहो । उनलोगों का नित्यकर्म गृहस्थ धर्म की लज्जा से कहिये अथवा लोग प्रवृति से केवल भगवान् की प्रतिमा का दर्शन तथा श्रावकाचारादि विषयों के धर्म ग्रन्थोंको छोड़कर केवल अध्यात्मशास्त्रों का स्वाध्याय करना रहगया है यही नहिं किन्तु उनलोगो का उपदेश भी होता है तो वह इसी विषय को लिये होता है। ऐसे लोगों के मुहँ से कभी किसी ने गार्हस्थ्य धर्मका उपदेश नहीं सुनाहोगा। सभा वगेरह में शास्त्र भी होंगे तो इसी विषय के । श्रोतागण चाहें अल्पज्ञ हो चाहे कुछ जाननेवाले, चाहे गृहस्थ धर्म को किसी अंश में जानते हों अथवा अनभिज्ञ, चाहे बालक हों अथवा वृद्ध सभी को अध्यात्म सम्बन्धी, ग्रन्थों का उपदेश मिलेगा जिन में प्रायः मुनिधर्म का वर्णन होने से व्यवहार धर्म से उपेक्षा की गई है । आज जैनियों में ग्रहस्थ धर्मका जाननेवाला एक भी क्यों नहीं देखाजाता तथा किसी अंश में भी श्रावक धर्म का पालन करने वाला क्यों नहीं देखाजाता ? इसका कारण बालकपन से अध्यात्मग्रन्थों की शिक्षा देने के सिवाय और कुछभी नहीं कह सकता। इस विषय में अब जरा महर्षियों का भी मत सुनिये ।

श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—

वीरचर्या च सूर्यप्रतिमा त्रिकालयोगनियमश्च ।
सिद्धान्तरहस्यादिष्वध्ययनं नास्ति देशविरतानाम् ॥

अर्थात्—देश विरति गृहस्थों को दिन में प्रतिमायोग, वीरचर्या, नियम पूर्वक नित्यप्रति त्रिकाल योग का धारण करना और सिद्धान्त शास्त्रोंका अध्ययन इन विषयों में अधिकार नहीं है।

श्री वसुनन्दि श्रावकाचार में—

दिणपडिमवीरचर्यातियालयोगधरणं णियमेण।
सिद्धान्तरहस्साधयणं अधियारो णत्थिदेशविरदाणं।

अर्थात्—दिन में प्रतिमायोग धारण करने का, वीरचर्या स्वीकार करके आहार लेनेका, नियम से त्रिकाल योग धारण करने का तथा सिद्धान्त शास्त्रों के अध्ययन का देशविरति लोगों को अधिकार नहीं है।

सागारधर्मामृत में—

श्रावको वीरचर्याऽहः प्रतिमातापनादिषु।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च॥

अर्थात्—श्रावक लोग, वीरचर्या के, दिन में प्रतिमायोग के धारण करने के तथा सिद्धान्त शास्त्रों के अध्ययन करने के अधिकारी नहीं हैं।

श्री धर्मसंग्रह में:—

कल्पन्ते वीरचर्याऽहः प्रतिमातापनादयः।
न श्रावकस्य सिद्धान्तरहस्याध्ययनादिकम्॥

अर्थात्—वीरचर्या से आहारादि के करने के दिन में प्रतिमायोग से परीतापनादिकों के सेवन करने के तथा सिद्धान्ताचार सम्बन्धी ग्रन्थों के पठन पाठन के अधिकारी गृहस्थ लोग नहीं हैं।

धर्मामृत श्रावकाचार में:—

त्रिकालयोगे नियमो वीरचर्या च सर्वथा ।
सिद्धान्ताध्ययनं सूर्यप्रतिमा नास्ति तस्य वै ॥

अर्थात्—गृहस्थोंको दिन में प्रतिमायोग से तपादि, वीर-चर्या से भोजन वृत्ति तथा सिद्धान्त शास्त्रों का अध्ययनादि नहीं करना चाहिये ।

भगवानिन्द्रनन्दि स्वामी तो यहांतक कहते हैं कि:—

आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम् ।
न वाचनीयं पुरुतः सिद्धान्ताचारपुस्तकम् ॥

अर्थात्—आर्यिका गृहस्थ और थोडी बुद्धि वाले शिष्यों के आगे सिद्धान्ताचार सम्बन्धी ग्रन्थों को बाचना भी योग्य नहीं है उनका अध्ययन तो दूर रहे । इत्यादि शतशः ग्रन्थों में इसी प्रकार वर्णन देखा जाता है । अब इसबात पर हमारे बुद्धिमान् पाठक ही विचार करें कि आचार्यों ने कुछ न कुछ हानि तो अवश्य देखी होगी जबही गृहस्थों को सिद्धान्त विषय की पुस्तकों के अध्ययनादि का निषेध किया है । मेरी समझ के अनुसार इससे बड़ी और क्या हानि कही जा सकेगी कि जिनके दिन रात अध्ययनादिक से गृहस्थ धर्म समूल से ही चला जाता है । उसकी बासना भी उन लोगों के दिल में नहिं रहती ।

प्रश्न--यह कहना बहुत असंगत है यदि ऐसेही तुम्हारे कथनानुसार मान लिया जाय तो यह तोकहो कि ये ग्रन्थ फिर किसके उपयोग में आवेंगे ?

उत्तर-इसका यह अर्थ नहीं कहा जा सकता कि जो ग्रन्थ गृहस्थों के उपयोग नहीं आवें तो वे किसी के उपयोग में नहीं आसकते। आचार्यों ने सहस्रों ग्रन्थ मुनिधर्म सम्बन्ध के भी निर्मापित किये हैं परन्तु वे हमारे उपयोग में किसी तरह नहीं आसकते तो क्या इससे यह कहा जा सकेगा कि वे अनुपयोगी हैं? इसका यह अर्थ नहीं है किन्तु यों समझना चाहिये कि मुनिधर्म के ग्रन्थ मुनियों के उपयोगी होते हैं गृहस्थ धर्म के ग्रन्थ गृहस्थों के उपयोगी हैं। इसीलिये आचार्यों का यह कहना बहुत योग्य और आदरणीय है। कहने का तात्पर्य यह है कि मुनियों को अपने आचार विचार के ग्रन्थों के अनुसार चलने का उपदेश है और गृहस्थों को गृहस्थ धर्म के अनुसार।

इस तरह से इस विषय का शास्त्रों में उल्लेख है। वह आप लोगों के सन्मुख उपस्थित है। जैन जाति में इस विषय की कितनी अवश्यका है यह बात आसानी से मालूम हो सकती है। केवल जाति की दशा पर तथा अपने अनुकूल गार्हस्थ्य धर्म पर लक्ष्य देना चाहिये। हमारी अवनति का प्रधान कारण हमलोगों से गृहस्थ धर्म का ठीक तरह पालन नहीं होना है। अर्थात् यों कहो कि गार्हस्थ्य धर्म का आज हम लोगों में नाम निशान तक नहीं पाया जाता। लोग अपने धर्म को छोड़ कर ऊंचे दरजे पर चढ़ने के उपायों में लगे हुवे हैं अर्थात् यों कहो कि सोपान के विना अकाश की सीमा पार करना चाहते हैं परन्तु यह आशा उनकी कहां तक सिद्धिता

का अवलम्बन करेगी यह विषय संशयोपहत है। जो हो यह तो अवश्य कहना पड़ेगा कि गृहस्थों को अपने आचार विचार के शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये। हम लोगों के लिये यही कल्याण का मार्ग है। मुनि धर्म सम्बन्धी शास्त्र हमारे लिये एक तरह से उपयोगी नहीं है कदाचित् कहो कि क्यों? इसके खुलासा के लिये कवि प्रवर बनारसी दास जी का इतिहास सामने उपस्थित है। जरा बनारसी विलास का पाठ कर जाइये उससे स्पष्ट हो जायगा।

मुण्डन विषय.

(चौलकर्म)

श्राद्ध, आचमन, और तर्पण की तरह मुण्डन भी वर्तमान प्रवृत्ति के अनुसार एक नया विषय है। चाहे जैन शास्त्रों में भलेही प्राचीन हो परन्तु अभी के लोगों के ध्यान में नही आसकेगा। यह बात दूसरी है कि मुण्डन विषय का जैन शास्त्रों में उल्लेख है परन्तु यदि किसी को इस विषय का श्रद्धान कराने के लिये प्रतीति कराई जाय तो, शायद ही इसे कोई स्वीकार करने की हामी भरेगा। मैं जहां तक खयाल करता हूँ इसे भी मिथ्यात्व का कारण बता कर निषेध करेंगे। इसे जैनियों का एक तरह से दौर्भाग्य कहना चाहिये कि आज भी जैन समाज में प्रत्येक विषय के शास्त्रों को विद्यमान रहते भी उन पर श्रद्धा काम नही करती। जिन्हें साक्षान्मिथ्यात्व कहना चा

हिये ऐसी अनेक क्रियायें जैन जाति में प्रचलित हो रही हैं। जिन से आज जैन जाति इस दशा को पहुँच चुकी है और दिनों दिन अधस्तल में समारही है उनके दूर करने के लिये किसी में चैतन्यता जाग्रत नहीं होती। यही कारण है कि आज जैन जाति में एक भी सुसँस्कारों से संस्कृत नहीं देखा जाता, एक भी पूर्ण विद्वान् नहीं देखा जाता, एक भी तेजस्वी नहीं देखा जाता। उन उत्कट मिथ्यात्व की कारण भूत आर्षविधि रहित विवाहादि क्रियाओं का तो काला मुँह करने के लिये कोई प्रयत्न शील नहीं होता और प्राचीन क्रियाओं की यह दशा! कहिये इसे कौन जाति के अवनति का कारण नहीं कहेगा?

पाठक महाशय! महात्मा महर्षियों की कार्य कुशलता पर जरा बिचार करिये उन्हें क्या विशेष लाभ हो सकता था जो वे मन्त्र तन्त्रादि विषय सम्बन्धी ग्रन्थों को लिख कर अपने अमूल्य समय को तपश्चरणादिकों की ओर से खींचते? उन्हें पुनः संसार के वास को स्ववास बनाने की अभिलाषा थी क्या? नहिं नहिं! यह जितना उन लोगों का प्रयास है वह केवल गृहस्थों के कल्याण के लिये। इसे एक तरह से उन लोगों का अनुग्रह कहना चाहिये। परन्तु इसके साथही जब हम अपनी प्रवृत्ति पर ध्यान देते हैं तो हृदय शोकानल से ज्वलित होने लगता है। खेद! कहां यह नीति की श्रुति और कहाँ हमारी कृतघ्नताः—

महतां हि परोपकारिता
सहजा नाघतनी मनागपि।

अस्तु। इसे काल चक्र की गति ही कहनी चाहिये। हमारा

प्रकृत विषय मुंडन पर विवेचन करने का है । यद्यपि प्रवृति तो कुछ और ही देखी जाती है परन्तु इस से हम अपना शास्त्र मार्ग से च्युत होना ठीक नहीं समझते । इसलिये यह तो खुलासा किये ही देते हैं कि मुंडन अर्थात् चौलकर्म जिसे केशवाप भी कहते हैं जैनशास्त्रों से विरुद्ध नहीं है । परन्तु ध्यान रहे कि जिस प्रकार मुंडन विषय के सम्बन्ध में ब्राह्मण लोगों का कहना है अथवा जिस तरह वे करते हैं उस प्रकार जैन शास्त्रों में मुंडन का विवेचन नहीं है । उसे तो महर्षियों ने सर्वथा मिथ्यात्व का ही कारण कहा है । मुंडन से जैनाचार्यों का क्या तात्पर्य है इसे नीचे शास्त्रानुसार खुलासा करते हैं ।

श्रीमद्भगवज्जिनसेन महर्षि महापुराण के ३० वें पर्व में मुंडन के सम्बन्ध में यों लिखते हैं :—

केशावापस्तु केशानां शुभेऽन्हि व्यपरोपणम् ।
क्षौरेण कर्मणा देवगुरुपूजापुरःसरम् ॥
गन्धोदकार्द्रितान्कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान् ।
मौण्ड्यमस्य विधेयं स्यात्सचलं वाऽन्वयोचितम् ॥
स्नपनोदकधौताङ्गमनुलिप्तं सभूषणम् ।
प्रणमय्य मुनीन्पश्चाद्योजयेद्बन्धुताशिषा ॥
चौलाख्यया प्रतीतेयं कृतपुण्याहमङ्गला ।
क्रियाऽस्यामादृतो लोको यतते परयामुदा ॥
(इति केशावापः)

अर्थात्—देव और गुरु की पूजन पूर्वक क्षौर कर्म से शुभ दिन में बालक के शिर के केशों के कटवाने को केशावाप क्रिया

कहते हैं । इसीका खुलासा किया जाता है । पहले केशों को गन्धोदक से गीले करके फिर उन्हें जिन भगवान् की पूजन के समय के शेषाक्षतों से युक्त करने चाहिये । फिर बालक का मुंडन शिखा (चौटी) सहित अथवा अपने कुल के अनुसार करना योग्य है । मुंडन हुवे बाद स्नान कराकर बालक के शरीर में *गन्ध वगैरह सुगन्धित वस्तुओं का लेपन तथा भूषण पहराना* चाहिये । इन क्रियाओं की समाप्ति हो जाने पर पहले उस बालक को मुनियों के पास लेजाकर उन्हें नमस्कार कराना चाहिये । इसके बाद बन्धु लोगों के आशीर्वाद से उस बालक को योजित करें । पुण्याह बाचन मङ्गल स्वरूप इस क्रियाको "चौलकर्म" कहते हैं इस क्रिया में लोगों को बहुत सम्पदा पूर्वक प्रयत्न करना चाहिये ।

श्री इन्द्रनन्दि पूजासार में जहाँ गर्भाधानादि क्रियाओं के नाम लिखे हैं उन में केशावाप (मुंडन) भी लिखा हुआ हैः—

आधानप्रीतिसीमन्तजातकर्माभिधानकम् ।
बहिर्यानं निषद्यान्नकेशवापाक्षरोद्यमाः ॥
सुवाचनोपनीतिश्च व्रतं दर्शनपूर्वकम् ।
सामायिकाद्यनुष्ठानं श्रावकाध्ययनार्चनम् ॥

अर्थात्-आधान, प्रीति, सीमन्त, जातकर्म, वहिर्यान, निषद्या अन्नप्रासन, केशावाप, (चौलकर्म) इसी का नाम मुंडन है । अक्षराभ्यास, सुवाचन, उपनयन (यज्ञोपवीत,) दर्शन (वर्तावतरण), सामायिकादि अनुष्ठान, श्रावकाध्यन इसतरह मुंडन का विषय लिखा हुआ है ।

और भी :—

निषद्यानवमे मासे वत्सरेऽन्नाशनक्रिया ।
तृतीये वत्सरे कुर्याच्चौलकर्मसुतोदयात् ॥

अर्थात् बालक को नव महीने का होने पर उपवेशन क्रिया; एक वर्ष का होने पर अन्नप्राशन और तीसरे वर्ष चौलकर्म अर्थात् मुंडन करना चाहिये ।

तथा त्रिवर्णाचार में लिखा हुआ है कि :—

मुंडनं सर्वजातीनां बालकेषु प्रवर्त्तते ।
पुष्टिबलप्रदं वक्ष्ये जैनशास्त्रानुमार्गतः ॥
तृतीये प्रथमे वाऽब्दे पञ्चमे सप्तमेऽपि वा ।
चौलकर्म गृही कुर्यात्कुलकर्मानुसारतः ॥

तथा :—

चौलाऽर्हे बालकं स्नायात्सुगन्धशुभवारिणा ।
शुभेऽह्नि शुभनक्षत्रे भूषयेद्वस्त्रभूषणैः ॥
पूर्ववद्धोमं पूजां च कृत्वा पुण्याहवाचकैः ।
उपलेपादिकं कृत्वा शिशुं सिञ्चेत्कुशोदकैः ॥
यवमाषतिलव्रीहिशमीपल्लवगोमयैः ।
शरावाः षट् पृथक्वर्णा विन्यस्येदुत्तरादिशि॥
धनुः कन्यायुगमत्स्य वृषमेषेषु राशिषु ।
ततो यवशरावादीन्विन्यस्येत्पारितः शिशोः ॥

क्षुरं च कैत्तरीं कर्त्तसप्तकं घर्षणोपलम् ।
निधाय पूर्णकुंभाग्रे पुष्पगन्धाक्षतान्क्षिपेत् ॥
मात्रंकस्थितपुत्रस्य सधौतोऽग्रे स्थितः पिता ।
शीतोष्णजलयोः पात्रे सिञ्चयेद्युगपज्जलैः ॥
निशामस्तु दधि क्षित्वा तज्जलैश्चाशिरोरुहान् ।
सव्यहस्तेन संसेच्य प्रादक्षिण्येन घर्षयेत् ॥
नवनीतेन संघृष्य क्षालयेदुष्णवारिणा ।
मंगलकुंभनीरेण गन्धोदकेन सिञ्चयेत् ॥
ततो दक्षिणकेशेषु स्थानत्रयं विधीयते ।
प्रथमस्थानके तत्र कर्त्तनविधिमाचरेत् ॥
शालिपात्रं निधायाग्रे खदिरस्य शलाकया ।
पञ्चदर्भैः सपुष्पैश्च गन्धद्रव्यैः क्षुरेण च ॥
वामहस्तेन केशानां वर्त्तिं कृत्वा च तत्पिता ।
अंगुष्टाङ्गुलिभिश्चैतान् धृत्वा हस्तेन कर्त्तयेत् ॥

अर्थात्—मुंडन (चौलकर्म) सर्व जातियों के बालकों में होता है । इसलिये पुष्टि और बल के देने वाले मुंडन विषय को आज शास्त्रानुसार लिखता हूँ । गृहस्थ लोगों को यह चौल कर्म पहले, तीसरे, पांचवें, वा सातवें वर्ष शास्त्रों के अनुसार करना चाहिये ।

विशेष यों है—पहले जिस बालक का चौल कर्म होना है उसे शुभदिन में और शुभ नक्षत्र में सुगन्ध जल से स्नान कराकर वस्त्र भूषण से अलंकृत करना चाहिये । जिस तरह

गर्भधानादि विधियों में होम पूजन किया जाता है उसी तरह इस समय भी पुण्याहवाचक से होमादि विधि करके सुगन्ध पदार्थों से बालक को लेपन लगाकर उसका कुशोदक से सिञ्चन करना चाहिये। फिर जव, उड़द, तिल, शाल, समी वृक्ष के पत्र तथा गोमय इनसे छह शरावों को भर कर उत्तर दिशा में रखे। धनु, कन्या, मत्स्य, वृष, मेष राशि के होने पर यवादिक से भरे हुवे जो छह शरावे हैं उन्हें बालक के चारों ओर धरे। इसके बाद छुरी जिसे प्रचलित भाषा में उस्तरा कहते हैं, कर्त्तरी (कतरनी) कर्चसप्तक और इनके सुधारने का पाषाण (सिल्ली) इन्हें पूर्ण भरे हुवे कलशों के आगे धर कर गन्ध पुष्प और अक्षतादि मंगलीक वस्तुएं क्षेपण करनी चाहिये। धोये हुवे कपड़ों को धारण किये बैठा हुआ, बालक का पिता कुछ ठंडे और गरम जलके पात्र में बालक की माता सहित बालक का सिंचन करे। और बैठा हुआ ही दही से क्षेपण करके उसी जल से मस्तक के वालों का दक्षिण हाथ से सिञ्चन करे। वाम हाथ से उनका घर्षण करे। उसके बाद नवनीत (मक्खन) से वालों को रगड़ कर गरम जल से उन्हे धो डाले फिर मंगल कलश के जल से तथा गन्धोदक से सेचन करे। मस्तक के दक्षिण तरफ के केशों में तीन स्थान बनाना चाहिये। पहिले स्थान के केशों को कतरना चाहिये। शालि के पात्र को आगे धर कर खदिर वृक्ष की सलाई से पुष्पों से युक्त पांच दर्भ से गन्धद्रव्य से केशों की वर्तिका बनाकर उन्हें अंगुली तथा अंगुष्ठ से पकड़ कर वालक का पिता कतरे।

इसी तरह और भी शास्त्रों में लिखा हुआ है। अब हमारे वे महोदय बतावें जो मुंडन विषय को सुनने से शरीरावयव

को संकुचित कर लेते हैं कि मुंडन के कराने में कौन सी हानि है। किसी विषय की जब तक अनुपयुक्तता नहीं बतायी जायगी तबतक कौन यह बात मानेगा कि अमुक विषय ठीक नहीं है। केवल मुख मात्र के चार अक्षर निकाल देने से निषेध नहीं होता उसके लिये युक्ति प्रमाण भी होने चाहिये । केवल मुख मात्र के कहने से ही यदि प्रमाणता मानली जाय तो जैनियों को भी वैष्णवादि के जैन धर्म की निन्दा करने से अपना धर्म छोड़ देना चाहिये । परन्तु आज तक ऐसा हुआ भी है ? इसलिये यह कहना है कि यातो प्राचीन महर्षियों के कथनानुसार अपनी प्रवृति को ठीक करनी चाहिये या निषेध ही करना प्रधान कर्म है तो उसके लिये जरा प्रमाण और युक्तियों के ढूँढने के लिये आयास उठाना चाहिये और लोगों को यह कर बताना योग्य है कि देखो इस विषय का यों निषेध होता है और ये उसमें शास्त्र प्रमाण हैं । बस इतनी ही बात तो इधर के पर्वत को इधर उठा कर धर सकेगी। किं बहुना।

रात्रि पूजन.

इसलेख को प्रश्नोत्तर रूप से पाठकों के सामने समर्पित करते हैं। प्रश्नोत्तर के द्वारा विषयनिर्णय अच्छी तरह होजाने की संभावना है।

प्रश्न--रात्रि पूजन करना कितने लोगों के मुहँ से अच्छा नहीं सुना है ?

उत्तर-किसी बात का निषेध हानि को लिये होता है रात्रि पूजन करने में क्या हानि है उसे युक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध करनी चाहिये ? यही कारण है कि हिंसा, झूठ, चौरी, कुशील, आदि का निषेध हानि होने से किया जाता है।

प्रश्न--जिस बात को विद्वान् लोग निषेध करते हैं इससे जाना जाता है कि उसविषय में कुछ हानि अवश्य होगी ?

उत्तर-यह विषय किसी के अधिकार का नहीं अथवा किसी का निजी नहीं, जो जिसने जैसा कहदिया उसी तरह उसे मानलिया जाय। यह धर्म का मामला है और धर्म तीर्थंकारोंके तथा उनके अनुसार चलनेवाले मुनि महाष आदि के आधार है इसलिये जबतक कोई बात इनके अनुसार नहीं कही जायगी उसे कौन आदर की दृष्टि से देखेगा ?

प्रश्न--हम भी तो यही बात कहते हैं कि उन्हीं महर्षियों के अनुसार चलना चाहिये। परन्तु उसमें विशेष यह कहना है कि यह बात कैसे हमें मालूम होगी कि यह कथन महर्षियों काही लिखा हुआ है। यह भी तो कह सकते हैं कि जिस तरह विद्वानों के वाक्यों में तुम सन्देह करते हो उसी तरह हमारे लिये भी वही बात क्यों न ठीक कही जायगी ?

उत्तर-जब आचार्यों के अनुसार चलने में तुम्हारा हमारा एकही मत है फिर विवाद किस बात का, उसीके अनुसार अपनी प्रवृत्ति को उपयोग में लानी चाहिये। रही यह बात कि यह कथन आचार्यों का कहा हुआ है या

नहीं इसका समाधान ठीक तरह "पञ्चामृताभिषेक" तथा "पुष्प पूजन" सम्बन्धी लेखों में कर आये हैं उन्हें निष्पक्ष बुद्धि से देखना चाहिये। इतः पर भी यदि सन्देह बना रहे तो उसके लिये नीति कारने एक श्लोक लिखा है:—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति॥

हम यह कब कहते हैं कि कोई हमारे कथनानुसार अपनी प्रवृत्ति को करें परन्तु इसी के साथ यह कहना भी अनुचित नहीं कहा जा सकेगा कि जब हमारा कहना प्राचीन मुनियों के अनुसार है फिर यहकहने का अवसर नही रहेगा कि इसे प्रमाण कहेंगे और इसे नहीं। यदि हमारा उन लोगों से विरुद्ध हो तो उसे फौरन निकाल डालो परन्तु व्यर्थ ही झूठी कल्पना करना अनुचित है। यदि आचार्यों के कथन को न देख कर हरेक बचन प्रमाण मानलिये जावें तो लोगों ने तो यहां तक भाषा शास्त्रों में मनमानी हांक दी है कि "पार्श्वनाथस्वामी के मस्तक पर फण नहीं होने चाहिये। यह अनुचित है क्योंकि केवल ज्ञान के समय में फण नहीं थे, इत्यादि। अस्तु, रहे! परन्तु महर्षियों की यह आज्ञा नही है। प्रतिमाओं पर फण रहना चाहिये इस बात को समन्तभद्रादि प्रायः सभी महामुनियों ने स्वयंभू स्तोत्रादि में अनुमोदन किया है फिर कहो भाषा ग्रन्थकारों की बात को मानें अथवा महर्षियों की इस पर पाठकों को पूर्ण बिचार करना चाहिये।

प्रश्न--रहे यह बात, परन्तु रात्रि पूजन में तो और भी कितनी हानियें हैं ?

उत्तर-वह कौन सी हैं ?

प्रश्न--रात्रि पूजन में बड़ी भारी हानि तो यह है कि इस से असली जैन मत के उद्देश का घात होता है ?

उत्तर-हानि हो या नहो मनकी कल्पना तो अवश्य हो जानी चाहिये। क्या इसबात के बताने का अवसर मिलेगा कि जैनमत का असली उद्देश क्या है और रात्रि में पूजन करने से उसका निर्मूल कैसे होगा ?

प्रश्न--इसबात को सभी कोई जानते हैं कि जैनधर्म का उद्देश "अहिसा परमोधर्मः" है। इसी के सम्बन्ध में विचार करना है। रात्रि में पूजन करने से बहुत आरंभ होता है इसे आबालवृद्ध अंगीकार करेंगे क्योंकि रात्रि के समय में कार्यों के करने में किसी तरह उनकी देख रेख तो हो ही नहीं सकती और इसीसे अयत्नाचार होता है। अयत्नाचार की प्राचुर्यता हो जाने से हिंसा भी फिर उसी तरह होगी। दूसरी बात यह है कि श्रावकों के लिये वैसे ही आरम्भ के कम करने का उपदेश है और धर्म कार्यों मे तो विशेषता से होना चाहिये। सो तो दूर रहा उलटा धर्म कार्यों में अत्यन्त आरम्भ बढ़ाकर अपनी इन्द्रियों को धर्म की ओट में आश्रय देना कहां तक योग्य कहा जा सकेगा ?

उत्तर रात्रि में एक तरह के धर्म कार्य के करने से जैनधर्म के उद्देश के भंग होने की कल्पना करना अनुचित है। यह कहना उस समय ठीक कह सकते थे जब हम सर्व तरह का काम छोड़ कर रात्रि में मुनी की समान होकर बैठ-

जाते। अभी तो हमारी गृहस्थ अवस्था है इसलिये आरंभ का त्याग नहीं कर सकते। रात्रि के पूजन करने में आरंभ को छोड़कर किसी और कारण से दोष कहा-जाता तो उसपर विचार भी करने का कुछ अवसर रहता परन्तु यदि खास इसी हेतु से निषेध किया जाता है तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतिष्ठादि महोत्सव में भी कितने काम रात्रि में होते हैं और उन्हें करनेही पड़ते हैं यदि इसी बिचार से रात्रि के पूजन का निषेध किया जाय तो इन्हें भी छोड़ना पड़ेगे। रही अयत्नाचार की, सो यह तो अपने आधीन है यदि किया जाय तो रात्रि में भी हो सकता है और नहीं करने से दिन में भी नहीं हो सकेगा। यदि कहोगे जो बात दिन में हो सकती है वह रात्रि में शतांश भी नहीं हो सकती? अस्तु रहे, परन्तु रात्रि में दीपकादिकों के प्रकाश में जितना हो सके उतना ही अच्छा है। रात्रि में मन्दिरादि जाने के समय मार्ग का ठीक निरीक्षण नहीं होता तो क्या दर्शनादि करना छोड़ देना चाहिये? यत्नाचार का यह तात्पर्य नहीं है। किन्तु जहां तक हो सके बहुत सावधानता से काम करना चाहिये। इसका भी विशेष खुलासा पञ्चा-मृताभिषेक, पुष्पपूजन, तथा दीपपूजनादि लेखों में अच्छी तरह किया गया है उन्हें देखना चाहिये।

प्रश्न प्रतिष्ठादि विधियों के रात्रि सम्बन्धी आरम्भ को लेकर उसे नित्य क्रिया में उदाहरण बना देना ठीक नहीं है वे तो नैमित्तिक क्रियायें हैं उनमें रात्रि में यदि कोई बात हो भी तो कोई विशेष हानि नहीं।

उत्तर-नैमित्तिक क्रियाओं में रात्रि में भी आरम्भ होना स्वीकार करते हैं यह अच्छी बात है। यह बात हम भी किसी लेख में लिख आये हैं कि रात्रि पूजन करना नैमित्तिक विधि है। इसका काम आकाश पञ्चमी तथा चन्दनषष्ठी आदि व्रतों में पड़ता है। नित्य विधि में केवल दीप पूजन सन्ध्या के समय करनी पड़ती है। उमा स्वामि महाराज ने श्रावकाध्ययन में लिखा है किः—

"सन्ध्यायां दीपधूपयुक्"

अर्थात्—सायंकाल में दीप और धूप से जिन भगवान् की पूजन करनी चाहिये। और भी बहुत से शास्त्रों में त्रिकाल पूजन करना लिखा हुआ मिलता है।

प्रश्न--सन्ध्या समय के पूजन करने को तो हम भी स्वीकार करते हैं उस में क्या हानि है हमारा निषेध करना तो रात्रि पूजन के विषय में है।

उत्तर-जब सन्ध्या काल में पूजन करना मानते हो तो रात्रि में पूजन करना तो सुतरां सिद्ध होजायगा। क्योंकि शास्त्रों के अनुसार सायंकाल में कुछ रात्रि का भी भाग आजाता है। फिर भी रात्रि पूजन का निषेध करना योग्य नहीं है। अब शास्त्रों को देखिये कि रात्रि पूजन के विषय में किस तरह लिखा हुआ है।

व्रतकथाकोष में श्रुतसागर मुनि आकाश पञ्चमी की विधि यों लिखते हैंः—

तत्कथं दुहितर्वच्मि नभस्ये पञ्चमीदिने ।
शुचावुपोषितं कार्यं प्रदोषे श्रीजिनौकसि ॥
आकाशे पीठमास्थाप्य चतस्रः प्रतियातनाः ।
तत्र तासां विधातव्यं यामे यामे स्नवादिकम् ॥
तथाहि पूर्वं कर्त्तव्यं यथावदभिषेचनम् ।
चर्चनं स्तवनं जापस्तत्रैषा स्तुतिरुच्यते ॥

अर्थात्—किसी कन्या के लिये मुनि का उपदेश है कि पुत्रि ! यदि तुम आकाश पञ्चमी के व्रत की विधि सुनना चाहती हो तो सुनो मैं शास्त्रानुसार कहता हूँ । भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी के दिन उपवास करके रात्रि के समय जिन मन्दिर में आकाश में मनोहर सिंहासन को स्थापन करना चाहिये। और उस पर चार जिन भगवान् की प्रतिमायें विराजमान करके प्रहर २ में उनका अभिषेकादि करना चाहिये। इसके बाद पूजन स्तवन जप तथा यह स्तुति पढ़ना चाहिये इत्यादि ।

चन्दनषष्ठी कथा में लिखा है कि:—

भद्र ! चन्दनषष्ठीयमीदृग्पापक्षये क्षमा ।
स्वर्गादिफलदा नृणां सा कथं वेदितः शृणु ॥
भाद्रकृष्णे गुरूक्त्वा षष्ठ्यां कुर्यादुपोषितम् ।
चैत्यलयाग्रतश्चन्द्रोदये चन्द्रप्रभं प्रभुम् ॥
सलिलादिभृतैःशुद्धैः पञ्चभिःकलशादिभिः ।
षट्कृत्वः पूजयेत्पूजाद्रव्यैः षट्षट्प्रकारकैः ॥

नालिकेरमहाबीजपूरकूष्मांडदाडिमैः।
पूगैश्च पनसैरर्घं दद्याद्गन्धाक्षतैरपि॥

अर्थात्—कोई मुनिराज चन्दनषष्ठी व्रत की विधि किसी भव्य पुरुष को उपदेश करते हैं कि-भद्र! इस प्रकार यह चन्दनषष्ठी पापों के नाश करने के लिये समर्थ है और मनुष्यों के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों की देने वाली है। यदि तुम पूछोगे कि उस की विधि किस तरह है तो सुनो मैं यथार्थ कहता हूँ।पञ्चपरमेष्ठी को नमस्कार पूर्वक भाद्रपद कृष्ण षष्ठी (छठ) के दिन उपवास करना चाहिये। और रात्रि में चन्द्रमा का उदय होजाने पर चन्द्रप्रभ जिन भगवान् की, सलिल, ईक्षुरस, दधि, आदि शुद्ध पञ्चामृतों से भरे हुवे कलशों से, तथा छह छह पूजन द्रव्यों से पूजन करनी योग्य है। तथा नालिकेर, बीजपूर, कूष्मांड (कोला), दाड़िम, सुपारी, पनस और गन्धाक्षतादि का अर्घ देना चाहिये। इसी तरह और भी कथा कोषादि में रात्रि पूजन का नैमित्तिक विधान है। केवल विधान ही नहीं है किन्तु कितने पुण्य मूर्तियों ने नैमित्तिक तिथियों में रात्रि के समय पूजन की भी है।

सम्यक्त्व कौमुदी में लिखा है:—

अर्हद्दासः सपत्नीको निजधाम्नि जिनेशिनः।
पूजामहर्निशं चक्रे यावदष्टौ प्रवासरान्॥

अर्थात्—अपनी वल्लभाओं के साथ अर्हद्दास सेठ ने आठ दिन तक रात्रि और दिन जिन भगवान् की पूजन की।

उत्तर पुराणान्तर्गत वर्द्धमान पुराण में महर्षि सकल कीर्त्ति कहते हैं:—

कार्त्तिकासितपक्षस्य चतुर्दश्याः सुपश्चिमे ।
यामे सन्मतितीर्थेशः कर्मबन्धादभूत्पृथक् ॥
सवधूकैर्नाकिवर्गैर्नरनारीखगेश्वरैः ।
तत्क्षणे मोक्षकल्याणपूजाकृता सुखाप्तये ॥

अर्थात्—कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में भगवान् सन्मति कर्मबन्ध से अलग हुवे हैं अर्थात्-मोक्ष के अधिपति हुवे हैं। ऐसा समझ कर उसी समय देव, देवाङ्गना, मनुष्य, विद्याधरादिकों ने त्रैलोक्येश्वर के मोक्ष कल्याणकी भक्ति पूर्वक पूजन की। महापुराण में भगवज्जिनसेनाचार्य ने भी महाराज वज्रजंघ विषयक कथा रात्रि पूजन के सम्बन्ध में लिखी है। इत्यादि शास्त्रों से जानाजाता है कि रात्रि पूजन करना नैमित्तिक विधि में योग्य है। किसी तरह यह विषय सदोष नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न--मानलिया जाय कि रात्रि में पूजन करना चाहिये, परन्तु यदि उसी नैमित्तिक विधि को दिनमेंही की जाय तो हानि क्या है? अरे! और कुछ नहीं तो आरंभादि सावद्य कर्मों से तो बचेंगे?

उत्तर-जब रात्रि में पूजन करना स्वीकार करतेहो तो फिर उसमें प्रवृत्ति करना चाहिये। व्यर्थ मिथ्या मनकल्पना को हृदय में स्थान देना ठीक नहीं है। जब शास्त्रों में रात्रि पूजन केलिये आज्ञा है फिर उसमें कहना कि दिन में करने से क्या हानिहै? हानि है या नहीं इसे हम क्या कहैं यहतो स्वयं अनुभव में आसकता है कि जो हानि आचार्यों की आज्ञाके भंग करने से होती है वही

हानि इससे भी होगी। और यदि सावद्यमात्र के भय से रात्रि पूजन करना छोड़ दिया जाय तो दिनमें भी क्यों नहीं? क्या दिन में सावद्यकर्म कर्मों को नहीं आनेदेगा? यह तो केवल भ्रम है जो सावद्यकर्म दिन में होगा वही रात्रि में भी। अन्तर केवल इतनाही है कि रात्रि के समय सावधानता की जरा अधिक आवश्यक्ता है। इसलिये यथा योग्यतानुसार करके भगवानकी आज्ञा माननी चाहिये।

शासनदेवताओं के सम्बन्ध में भी आचार्यों का कुछ और मत है और लोगों का कुछ और ही विचार है। आचार्यों का कहना है कि शासनदेवता जिनमार्ग के रक्षक हैं मिथ्यामतियों के द्वारा आई हुई आपत्तियों को दूर करते हैं। जिनधर्म के प्रभाव को प्रकट करने वाले हैं तथा मानतुंग, समन्तभद्र, कुन्द-कुन्द, विद्यानन्दि, अकलंक, वादिराज, सुदर्शन सेठ, महाकवि धनंजय आदि कितने महा पुरुषों की अवसरानुसार सहायता की है इससे जाना जाता है कि वे धर्मात्मा पुरुषों की अवसरानुसार सेवा भी करते रहते हैं। अस्तु, सहायता रहे! परन्तु प्राचीन प्राणाली है इसलिये सादर विनय के योग्य है।

इसके विरुद्ध कहने वालों का यह कहना है कि—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥

अर्थात्—किसी तरह के भय से, आशा की पराधीनता से, अनुराग से तथा किसी प्रकार के लोभ से कुदेव, कुगुरु और मिथ्याशास्त्रों का विनय तथा उन्हें नमस्कारादि सम्यग्दृष्टि पुरुषों को कभी नहीं करना चाहिये । तात्पर्य यह कहा जा सकता है कि जिनदेवादिकों को छोड़ कर और कोई विनय तथा नमस्कार के योग्य नहीं है । जब इस तरह शास्त्राज्ञा है फिर ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो जानता हुआ भी अनुचित्-कार्य में अपना हाथ पसारेगा । कदाचित् कहो कि शासन देवता जिनमार्ग के रक्षक हैं इसलिये उनका नमस्कारादि से सत्कार करने में किसी तरह की हानि नहीं है । यह भी केवल बुद्धि का भ्रम है । इस संसार में यह जीव अपनेही कर्मों से सुख तथा दुःखादि कों का उपभोग करता है । आजतक इस अतिगहनसंसाराटवी में भ्रमण करते हुवे जीवात्मा की न तो किसी ने सहायता की और न कोई कर सकता है । ये तो रहे किन्तु जिनदेव तक जीवों के कृतकर्मों को परिवर्तित करने में शक्ति विहीन है फिर और की कितनी शक्ति है यह शीघ्र अनुभव में आसकता है । इसी अर्थ को दृढ़ करते हुवे महाराज कार्तिकेय ने भी अनुप्रेक्षा में लिखा है कि—

जइ देवो वि य रक्खइ मंतो तंतो य खेत्तपालो य ।
मियमाणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होंति ॥

अर्थात्—यदि मरते हुवे मनुष्यों की, देव, मंत्र, तत्र, क्षेत्र-पालादि देवता रक्षा करने में समर्थ होते तो आज यह संसार अक्षय हो जाता परन्तु यह कब संभव हो सकता है ।

तथा और भी कहते हैं कि—

एवं पेच्छंतो विं हु गहभूयपिसायजोगिनीयक्खं ।
सरणं मण्णइ मूढो सुगाढमिच्छत्त भावादो ॥

अर्थात्—इस तरह सारे संसार को शरणरहित देखता हुआ भी यह मूर्ख आत्मा ग्रह भूत, पिशाच, यक्षादि देवताओं को शरण कल्पना करता है। इसे हम गाढ मिथ्यात्व को छोड़ कर और क्या कह सकते हैं। इससे यह तो निश्चय होही गया कि इस संसार में न कोई सुख का देने वाला है और न कोई दुःख का। यदि है तो वह केवल अपना अर्जित शुभाशुभ कर्म फिर व्यर्थ ही यह कहना कि अमुक की सहायता जिनशासन देवताओं ने की थी। अरे! जब दैव अनुकूल होता है तो वेही देवी देवता सेवा करने लगते हैं और प्रतिकूल होने से उल्टे विपत्ति के कारण बन जाते हैं। इसलिये यदि जगत में कोई सेवनीय है तो जिनदेव ही है उन्हें छोड़ कर सर्व कल्पना मिथ्यात्व है। इसी आशय को लिये भगवान्समन्तभद्रस्वामि ने उक्त श्लोक लिखा है इत्यादि।

इस तरह शासनदेवताओं का अनादर किया जाता है यह कहना कहाँ तक ठीक है इस पर कुछ विचार करना है। वह विचार हमारा नहीं है किन्तु शास्त्रों का है इसलिये पाठक महोदय जरा अपने ध्यान को सावधान करके विचार करें।

भगवान्समन्तभद्र का कुदेवादिकों के सम्बन्ध में जिस तरह कहना है वह बहुत ठीक है। उसके बाधित ठहराने की किसमें सामर्थ्य है। परन्तु उसके समझने के लिये हमारे में शक्ति नहीं है इसी से उल्टे अर्थ का आश्रय लेना पड़ता है। कुदेव किसे कहना चाहिये पहले यह बात समझने के योग्य है। जब कुदेवादिकों का ठीक बोध हो जायगा तो सुतरां प्रकृत विषय हृदय में स्थान पालेगा। शास्त्रों में कुदेवों के विषय में क्या लिखा हुआ है। इसे हम आगे चल कर लिखेंगे। क्योंकि इस विषय में

बहुत कुछ लिखना है। पहले दूसरी शंका का समाधान किये देते हैं।

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा की रीति से शासन देवताओं का निषेध नहीं हो सकता। किन्तु यह बात हम भी मानते हैं कि जिसने जैसा कर्म उपार्जित किया है उसी के अनुसार उसे फल भी मिलेगा इसी तरह नीतिशास्त्र भी कहता है कि—

अवश्यं ह्यनुं भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अपने किये हुए शुभ तथा अशुभ कर्म अपने को ही भोगने पड़ते हैं। उसे जिन भगवान तक भी न्यूनाधिक नहीं कर सकते फिर शासन देवता कुछ कर सकेंगे यह नहीं माना जा सकता। इसमें विवाद ही क्या है? विवाद तो शासनदेवताओं का सत्कारादि करना चाहिये या नहीं? इस विषय पर है। कदाचित् कहो कि ऊपर की बात से प्रयोजन क्यों नहीं उस से तो हमारा बड़ा भारी प्रयोजन सधेगा। क्योंकि जब शासन देवताओं से हमारा प्रयोजन ही नहीं निकलता फिर उनके पूजनादिक से लाभ क्या है? इसी से कहते हैं कि स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार शासनदेवताओं का ठीक निषेध हो सकेगा? यह समझ का भ्रम है। स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा का तात्पर्य यह नहीं है किन्तु वह कथन अशरण भावना का है और अशरण भावना के कथन की शासनदेवताओं के कथन से समानता नहीं जचती। यदि मान लिया जाय कि शासन देवताओं का निषेध ऊपर के कथन से हो सकता है तो यह भी कह सकते हैं कि एक तरह से जिन भगवान् की सेवा वगैरह से भी कुछ नहीं हो सकेगा क्योंकि जिन भगवान् भी तो किसी

को कुछ देते लेते नहीं है। तो फिर क्या उनकी उपासना छोड़ देना चाहिये ? कार्त्तिकेयस्वामि का जो कहना है वह प्रायः निश्चयत्व की अपेक्षा से है परन्तु व्यवहार में उसकी जरा गौणता कहनी पड़ेगी। यह लिखा हुआ है कि जिन भगवान् किसी का बुरा भला करने को समर्थ नहीं हैं परन्तु साथ ही यह भी लिखा हुआ मिलता है कि अनिष्टदुःखादिकों की शान्ति के लिये जिन भगवान् की पूजनादि करनी चाहिये। केवल करनी ही चाहिये यह नहीं किन्तु आदिपुराण में यह लिखा हुआ है कि जिस समय भरतचक्रवर्त्ती को खोटे स्वप्न आये थे उस समय भगवान् के उपदेशानुसार उन स्वप्नों की शान्ति के लिये पूजनादि वगैरह उन्होंने किये थे। इसके अतिरिक्त और भी हजारों कथाये हैं। कथायें रहें ! किन्तु यह बात तो दिन रात हमें भी करनी पड़ती है तो क्या इस से यह कहा जा सकता है कि जिन भगवान् तो कुछ भला बुरा नहीं कर सकते फिर उनकी पूजनादि से लाभ नहीं होगा ? कभी नहीं ! इसी तरह शासन देवताओं के विषय में भी क्यों न समझा जाय ? इसे देवता मूढ भी नहीं कह सकते क्योंकि समन्तभद्रस्वामि ने रत्नकरंडउपासकाध्ययन में देव मूढ़ता का यों वर्णन किया है—

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥

अर्थात्—किसी प्रकार के इह लोक सम्बन्धी ऐश्वर्यादिकों की इच्छा से रागद्वेषादि युक्त देवताओं की उपासना करने को देव मूढता कहते हैं। इसलिये शासन देवताओं के सत्कारादिकों में किसी तरह की ऐहिक वांछा नहीं होनी चाहिये।

प्रश्न--फिर यह कहो कि शासन देवता किस लिये पूजे जाते हैं ?

उत्तर-जिन शासन की रक्षा के लिये। प्रतिष्ठादि कार्यों में अनेक प्रकार के क्षुद्र देवादिकों के द्वारा उपद्रवों के किये जाने की संभावना रहती है इसलिये शासन देवता उसके निवारण के लिये नियोजित हैं। इसी से जिनदेव के साथ २ उनका भी उनके योग्य सत्कार किया जाता है।

प्रश्न--जब वे शासन के रक्षक हैं और धर्मात्मा हैं तो स्वयं रक्षा करेंगे ही इस में उनके पूजने की क्या आवश्यक्ता है ?

उत्तर-आवश्यक्ता क्यों नहीं जब प्रतिष्ठादि कार्यों मे छोटे से छोटे-का यथोचित् सत्कार किया जाता है फिर यह तो जिन धर्म के भक्त और शासन के रक्षक हैं इसलिये अवश्य सत्कार के पात्र हैं।देवपर्याय में ऐसा कौनसा उन्होंने भीषण अपराध किया है जो जरा से सत्कार के पात्र नहीं रहे। क्या यह उनके जैनधर्म के भक्त होने का प्रायश्चित है ? जो जैनीलोग छोटे छोटे और नीच से नीच मुसलमानादिकों का मन माना सत्कार कर डालें और जो खास जिन धर्म के भक्त तथा रक्षक हैं उन की यह दशा ! जो विचारे थोड़े से सत्कार के लिये तरसें। यह तो हम भी कहते हैं कि यदि वे जिनधर्म के सच्चे भक्त होंगे तो जिन शासन की रक्षा करेंगे ही परन्तु यह तुम्हें भी तो योग्य नहीं है जो त्रैलोक्यनाथ के साथ में रहने वाले खास अनुचरों का असत्कार करडालें। पुराणादि

कों में सैकड़ों जगहँ यह बात लिखी हुई मिलेगी कि अ-मुक राजा के दूत का अमुक नृपति ने यथेष्ट सत्कार किया। तथा हम लोगों में भी यह बात अभी भी प्रचलित है कि हमारे यहां आये हुवे अतिथी के सत्कार के साथ में उनके साथ में आये हुवे भृत्यवर्गों का सत्कार किया जाता है फिर जिनदेव के सेवकवर्गों ने ही क्या बड़ा भारी पाप किया है जिससे वे सत्कार के पात्र ही नहीं रहे।

प्रश्न--यह कहना ठीक नहीं है। किन्तु जो समन्तभद्रस्वामि ने लिखा है कि:—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥

इस श्लोक के अनुसार अपनी प्रवृति करनी चाहिये। पद्मपुराण में किसी जगह यह लिखा हुआ है कि राजा वज्रकर्ण ने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं कुदेवादिकों को कभी नमस्कार नहीं करूंगा इत्यादि इसी प्रतिज्ञा की बड़ी भारी प्रसंशा की गई है। अथवा तुम्हीं कहो यह बात ठीक है या नहीं ?

उत्तर समन्तभद्रस्वामि ने जो कुछ लिखा है वह तो ठीक है परन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं है। कुदेवादिकों का निषेध उस श्लोक से होता है शासन देवताओं का नहीं। दूसरे वज्रकर्ण का दृष्टान्त भी ठीक नहीं है क्योंकि वज्रकर्ण ने जिस तरह की प्रतिज्ञा की थी उसी तरह उसका निर्वाह भी किया था। अपनी सहाय के करने वाले महाराज राम-चन्द्र को भी नमस्कार नहीं किया था। परन्तु हमारी दशा

तो वैसी नहीं है हमतो दिन रात छोटे से छोटे मनुष्यों के चरणों में अपने सिर को रगडते फिरते हैं फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उसकी तरह हम भी अटल चल सकेंगे दूसरे राजा वज्रकर्ण ने कुदेवादिकों को नमस्कारादि नहीं करने की प्रतिज्ञा ली थी। अस्तु, शासनदेवता तो कुदेव नहीं हैं।

यदि थोडी देर के लिये मान भी लिया जाय कि शासन देवताओं के विषय की ही वह प्रतिज्ञा थी तो क्या इससे यह कहा जा सकता है कि वह सम्यग्दृष्टि पुरुषों को नमस्कारादि नहीं करता ? अथवा उसे किसी समय जिन मन्दिरादि बनवाने का अवसर आया होगा तो उसने शासन देवता तथा और प्रतिष्ठादि महोत्सव में आये हुवे शुद्धदृष्टि पुरुषों का यथा योग्य सत्कारादि नहीं किया होगा यह संभव माना जा सकता है ? नहीं। यह बात तो तब ठीक मानी जाती जब प्रतिष्ठादि कार्य शासन देवताओं बिना भी चल सकते होते सो कहीं प्रतिष्ठादि विधियों में देखा नहीं जाता। क्या चक्रवर्ति सम्यग्दृष्टि नहीं होते क्यों उन्हें चक्ररत्न की पूजनादि करना पड़ता है ? विद्यादिकों के साधन में क्यों देवताओं का आराधन किया जाता है ? क्या वे सब जैन धर्म के पालन करने वाले विद्याधर लोग मिथ्यादृष्टि ही होते थे ? जैनमत में नव देवता पूजने लिखे हैं उन में जिन मन्दिर भी गर्भित है। क्यों ? जिन मन्दिर तो पत्थर और चूनों का ढेर है न ? उसके पूजने से क्या फल होगा इसी तरह समवशरण तथा सिद्धक्षेत्रादिकों का भी पूजन

किया जाता है यह क्यों ? अरे तुम्हारे कथनानुसार तो केवल जिनदेव ही पूजने चाहिये। कदाचित् कहो कि यह कहना अनुचित है क्योंकि जिनमन्दिर, समव शरण तथा सिद्ध क्षेत्रादिकों की जो पूजन करते हैं उस का कारण यह है कि उनमें जिन भगवान विराजे हैं अर्थात् यों कहो कि—

सद्भिरध्युषिता धात्री पूज्या तत्र किमद्भुतम् ॥

अर्थात्—जिस जगहँ पर महात्मा लोग विराजते हैं अथवा जिस जगहँ से वे निर्वाण स्थान को पाते हैं वह उन्हीं के माहात्म्यादि का सूचक है इसलिये जिनमन्दिरादि भी पूज्य हैं।

तात्पर्य यह कहा जा सकता है कि-यह महात्मा पुरुषों का माहात्म्य है कि जिनके आश्रय से छोटी से छोटी भी वस्तु सत्कार के योग्य हो जाती है। यदि यही कहना है तो फिर शासनदेवता सत्कार के योग्य क्यों नहीं हैं उन्होंने क्या जिन देव का आश्रय नहीं पाया है क्या वे जिन धर्म के धारक भक्त नहीं है ऐसे कहने का कोई साहस करेगा ? कदाचित् कहो कि जिनदेव के शासन को एक छोटी जाति का मनुष्य भी मानने लग जाय तो क्या उसके साथ भी वैसाही सत्कारादि करना चाहिये जैसा और भाइयों का किया जाता है ? अवश्य ! उसमें हानि क्या है ? यदि वह जैनमत का अनुयायी है तो अवश्य सत्कार का पात्र है। जैनशास्त्रों मे हजारों ऐसी कथायें मिलेगीं कि छोटी छोटी जाति के मनुष्यों ने

संयम धारण किया है तो क्या वे सत्कारादि के पात्र नहीं कहे जा सकते ? यह केवल भ्रम है । भयाशास्नेहे-त्यादि श्लोक का अर्थ तुम्हारे कथनानुसार ही करके यह मान लिया जावे कि सम्यग्दृष्टि पुरुषों के लिये लिये शासनदेवता वगैरह सब के विनयादि करने का निषेध है तो फिर परस्पर शास्त्रों के विरोधों को कोन दूर सकेगा ?

आदि पुराण में भगवज्जिनसेनाचार्य यों लिखते हैं:—

विश्वेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शान्तिहेतवे ।
क्रूरास्तु देवता हेया यासां स्याद्वृत्तिरामिषैः ॥

अर्थात् विश्वेश्वरादि शासन देवता शान्ति के लिये मानने योग्य हैं और जो मांस का भोजन करने वाले क्रूर देवता हैं वे त्यागने योग्य हैं । इस से यह स्पष्ट होता है कि शासनदेवताओं को मानने में किसी तरह का हानि नहीं है । विचारना चाहिये कि समन्तभद्रस्वामि का कुदेवादिकों के निषेध में क्या तात्पर्य है यदि तुम्हारे अनुसार अर्थ करें तो समन्तभद्र तथा जिनसेन स्वामि के वचनों में परस्पर विरोध आधमकता है । इसलिये तुम्हारा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आचार्यों के वचनों में विरोध कभी नहीं आसकता किन्तु हमारी समझ का विरोध है । इसलिये रत्नकरंड के श्लोक का अर्थ कुदेवादिकों के सम्बन्ध में अन्यमतीदकों के कल्पना किये हुवे देवादिकों का निषेध समझना चाहिये शासन-देवताओं के निषेध का अर्थ करना मिथ्या है ।

प्रश्न--आदि पुराण के श्लोक का जैसा अर्थ किया है वह ठीक नहीं है यह तो उल्टा अर्थ है। इसी से हमारा कहना बहुत ठीक है कि भयाशास्नेहलोभाच्च इत्यादि श्लोक का तात्पर्य जिनदेव को छोड़ कर सबको निषेध करता है। उस श्लोक का असली अर्थ यह है—विश्वेश्वर तीर्थंकर भगवान् को कहते हैं और आदि शब्द से आचार्य उपाध्याय साधु का ग्रहण है। तात्पर्य यह हुआ कि पञ्च-परमेष्ठी शान्ति के लिये हैं और शेष कुदेव असेवनीय हैं। यही अर्थ किसी विद्वान् ने भी अपने ग्रन्थ में किया है। कदाचित् कहो कि इस में क्या प्रमाण है कि विश्वेश्वर नाम तीर्थंकर भगवान् का है तो इसके उत्तर में इतना कहनाही ठीक कहा जा सकेगा कि जिस तरह त्रिभुवन स्वामी, त्रैलोक्यनाथ, आदि शब्द से जिनदेव का स्पष्ट बोध होता है उसी तरह विश्वेश्वर शब्द से तीर्थंकर भगवान् का क्यों नहीं हो सकेगा? यह निस्सन्देह बात है।

उत्तर-यह नई कल्पना आज ही कर्ण विवर तक पहुँची है। पहले कभी इसका श्रवण प्रत्यक्ष नहीं हुआ था। खैर जरा समालोचना के भी योग्य है। जो अर्थ शास्त्रों से मिलता हुआ किया गया है वह तो झूँटा बताया गया और जो वास्तव में झूँठा और जैनशास्त्रों से बाधित है वह आज सत्य माना जा रहा है। क्या कोई परीक्षक नहीं है जो सत्य और झूँठ को अलग करके बता दे। ठीक तो है जहाँ शास्त्रों को ही प्रमाणता नहीं है उस जगहँ विचारा परीक्षक भी क्या कर सकेगा? तौ भी पाठकों का ध्यान जरा इधर दिलाते हैं।

यदि आदि पुराण के श्लोक के अर्थ को प्रश्न कर्ता की ओर झुकावें तो बड़ी भारी बाधा आकर उपस्थित होती है। वह इस तरह—उस श्लोक में यह बात तो स्पष्ट है कि विश्वेश्वरादि देवता शान्ति के लिये माननीय हैं और जिनकी मांसादि भोज्य वस्तुओं से वृत्ति है वे झूँठे देवता त्याग ने योग्य हैं। अब हमारा यह कहना है कि यदि विश्वेश्वर शब्द से तीर्थंकरादिका ग्रहण किया जायगा तो वे देवता कौन है जिनकी मांस वृत्ति होने से निवृत्ति हो सकेगी ? जिनदेव से अन्य तो चतुर्णिकाय के देव हैं—तो क्या उनकी ··············· हा ! हन्त !! यह कल्पना बिल्कुल मिथ्या है।

प्रश्न--यह व्यर्थ दूसरों के ऊपर मिथ्यात्व का आरोप करना है। जैनमत में देवताओं की मांस वृत्ति बताना उनका अवर्ण बाद करना है ऐसा सर्वार्थसिद्ध में लिखा हुआ है। इसलिये विश्वेश्वरादि शब्द से तीर्थंकरादि का ग्रहण करके शासनदेवता वगैरह की निवृत्ति करनी चाहिये ?

उत्तर-यह बात ठीक है कि देवताओं की मांसवृत्ति बताना वह उनका अवर्णवाद करना है परन्तु उसमें विशेष यह है कि जिस तरह जैनमत में देवताओं की कल्पना की गई है उसी के अनुसार यह कथन है अन्यमतियों ने जो कल्पना की है उसके अनुसार नहीं है। और आदिपुराण में अन्यमतियों के देवताओं को लेकर ही निषेध है शासनदेवता वगेरह के लिये नहीं।

प्रश्न--यह कैसे माना जाय कि आदिपुराण का श्लोक अन्यमति देवताओं के लिये निषेधक है ?

उत्तर-इसमें और प्रमाणों की आवश्यका ही क्या है खास वह श्लोक ही कह रहा है कि जिनकी मांस वृत्ति है वे क्रूर देवता त्याज्य हैं और अन्य मतियों में देवताओं के लिये मांसव्यवहार प्रत्यक्ष देखा जाता है । यदि इतने पर भी यह बात न मानी जाय तो कहना पड़ैगा कि जिनसेनस्वामिको देवताओं की मांसवृत्तिके बताते समय गन्धहस्तमहाभाष्य, सर्वार्थसिद्धि, आदि शास्त्रों के उस प्रकर्ण का खयाल नहीं रहा होगा जहां पर देवताओं की मांसवृत्ति को उनका अवर्णवाद बताया है। यह सब मन मानी कल्पना है। इसे एक तरह जिनवाणी का अनादर कहना चाहिये । पहले तो यह आश्रय था कि इन ग्रन्थों को भट्टारकों ने बनाये हैं परन्तु जब भट्टारकों के ग्रन्थों को एक तरफ करके प्राचीन २ आचार्यों के बनाये हुवे प्रसिद्ध ग्रन्थों के प्रमाण दिये जाते हैं तो भी वही पहला का पहला दिन है। नही मालूम इस पवित्र जाति का आगामी और भी क्या होना है । शासन देवताओं का मानना केवल वे जिनशासन के रक्षक और धर्मात्मा हैं इसलिये अन्य धर्मात्माओं की तरह प्रतिष्ठादि महोत्सवों में उनका आव्हाननादि किया जाता है । और कोई विशेष हमारा स्वार्थ नहीं है । जो केवल अपने स्वार्थ के लिये ही शासनदेवताओं का आराधन करते हैं वे देवता मूढ़ के अवश्य भागी हैं। ऐसा ही समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरंड में लिखा है वह भी पहले लिख आये हैं।

प्रश्न -पूज्य तो जिनभगवान् को छोड़ कर और कोई नहीं

हो सकता । फिर शासनदेवता पूज्य कैसे कहे जा सकेंगे ? कदाचित् कहो कि शासनदेवता जिनशासन के रक्षक हैं तथा धर्मात्मा लोगों की सहायता करते हैं इसलिये वे पूजन के योग्य हैं ? परन्तु यह भी भ्रम है क्यों कि विघ्नों का दूर होना जितना जिनपूजन से नाश हो सकेगा क्या उसकी समानता शासनदेवताओं के पूजनादि से हो सकेगी ? इसे शास्त्र तो नहीं कहता मन से चाहे जो भले ही मान लिया जाय ।

शास्त्रकारों का कहना है कि—

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनीभूतपन्नगाः ।
विषं निर्विषतां याति पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥

इस अटल शास्त्रमर्यादा को देखते हुवे शासनदेवताओं के ऊपर भक्ति का सँचार नहीं होता । और न कभी स्वप्न में भी यह भावना होती है कि शासनदेवताओं को पूज्य दृष्टि देखें ?

उत्तर यह तो हम भी कहते हैं कि जिनभगवान् को छोड़ कर इस संसार में जैनियों के लिये दूसरा कोई पूज्य नहीं है और न हमारा यह कहना है कि जिनदेव की उपासना छोड़ कर शासनदेवता ही पूजे जायँ । परन्तु यहां पर पूजन का जैसा अर्थ समझा जाता है वेसा शासनदेवताओं के विषय में कहना नहीं है। पूजन का अर्थ सत्कार है वह सत्कार अधिकरण की अपेक्षा से अनेकभेद रूप है । माता पिता का सत्कार उनके योग्य किया जाता है, पढ़ाने वाले विद्या गुरुओं का सत्कार उनके योग्य

किया जाता है। इसी तरह अपने से बड़े, मित्र, बन्धु, मुनि, श्रावक आदि का उनके योग्य सत्कार करना उचित है । इसेही सत्कार कहो, विनय कहो, अथवा पूजन कहो, ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इसी तरह जिन भगवान् तथा शासनदेवताओं का सत्कर भी यथा-योग्य उचित है । इस से यह तो नहीं कहा जासकता कि शासनदेवता सत्कार के ही योग्य नहीं है । हाँ यह बात तब उचित कही जाती जब शासनदेवता और जिनभगवान् की पूजन का विधान समान कर देते और उसी समय यह भी कहना ठीक हो सकता था कि "शासनदेवताओं के ऊपर भक्ति का संचार नहीं होता" हमारा यह कहना तो नहीं है कि तुम जिनदेव की समान शासनदेवताओं की भी भक्ति पूजनादि करो और न शास्त्रों का ही यह मत है क्योंकि—

यशस्तिलक में भगवत्सोमदेव यों लिखते हैं—

> देवं जगत्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः ।
> समं पूजाविधानेषु पश्यन्दूरमधः व्रजेत् ॥
> ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे ।
> यतो यज्ञांशदानेन माननीयाः शुद्दृष्टिभिः ॥

अर्थात्-जो पूजनादि विधि में तीन जगत के नेत्र जिन-देव को तथा व्यन्तरादि देवताओं को एकदृष्टि से देखते हैं अर्थात् जिनदेव और शासनदेवताओं में कुछ भी भेद नहीं समझते हैं उन्हें नरकगामी समझा चाहिये । जिनागम में शासनदेवता केवल जिनशासन की रक्षा

करने के लिये कल्पना किये गये हैं इसलिये पूजनादि विधि में उनका यथा योग्य सत्कार सम्यग्दृष्टि पुरुषों को भी करना चाहिये। रही यह बात कि जिनभगवान् की पूजन से ही जब विघ्नों का नाश हो जाता है फिर शासनदेवताओं के मानने की क्या जरूरत है ? यह कहना ठीक है और न इसमें किसी तरह की शंका है परन्तु विशेष यह है कि प्रतिष्ठादि कार्यों में जिनपूजनादि के होने पर भी बाह्यप्रबन्ध की आवश्यक्ता पड़ती है उसी तरह यहांपर भी समझना चाहिये। जिस कार्य के करने को वसुंधरापति समर्थ होता है उसे और अधिकारी नहीं कर सकते परन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि वे बिल्कुल तिरस्कार के ही योग्य समझें जाँय। इसीतरह जिनपूजनादि सर्वमनोरथ के देने वाली है परन्तु उसकी निर्विघ्नसिद्धि के लिये शासनदेवता भी कुछ सत्कार के पात्र हैं।

प्रश्न--आदि पुराण में "विश्वेश्वर" शब्द आया है। उसका अर्थ व्युत्पत्ति के द्वारा तो तीर्थंकर का हम बता चुके हैं परन्तु तुमने जो उस अर्थ को बाधित ठहराया वह कैसे ?

उत्तर पहले तो उस श्लोक के तात्पर्य से ही वह अर्थ तीर्थंकरादि के सम्बन्ध में संघटित नहीं होता क्योंकि उस में मांस वृत्ति वाले देवता असेवनीय बताये हैं और शासनदेवताओं की तो मांसवृत्ति नहीं है। इसलिये स्वयं शासन देवता का विधान उस श्लोक से हो सकेगा। अस्तु, थोड़ी देर के लिये इसी असमीचीन कल्पना को ठीक मान लिया जाय तो नीचे लिखे श्लोकों का कैसे निर्वाह होगा ?

इन्द्रनन्दि स्वामी पूजासार में लिखते हैं—

यक्षं वैश्वानरं रक्षोऽनादृतं पन्नगासुरौ ।
सुकुमाराभिधानं च पितरं विश्वमालिनम् ॥
चमरं रोचनं देवं महाविद्यं स्मरं तथा ।
विश्वेश्वरं च पिंडाशं तिथिदेवान्समाह्वये ॥

(तिथिदेवता मालामंत्रः)

अर्थात्—यक्ष, वैश्वानर, राक्षस, अनादृत, पन्नग, असुर, सुकुमार, पिता, विश्वमाली, चमर, रोचन, देव महाविद्य, विश्वेश्वर, तथा पिंडाश इन तिथिदेवताओं का आव्हानन करता हूं।

तथा इन्द्रनन्दिसंहिता में—

यक्षो वैश्वानरो रक्षोऽनादृतः पन्नगासुरौ ।
सुकुमारः पिता विश्वमाली चमरविश्रुतिः ॥
वैरोचनो महाविद्यो मारो विश्वेश्वराह्वय ।
पिंडाशी चेति ताः प्रोक्ता देवताः प्रतिसन्मुखः ॥

ऊँ ह्रीँ क्रौँ प्रशस्तवर्ण २ यक्षवैश्वानरराक्षसाऽनादृतपन्नगाऽसुरसुकुमारपितृविश्वमालिचमरवैरोचनमहाविद्यमारविश्वेश्वरपिंडाशिनाम पञ्चदशतिथिदेवा आगच्छत २ स्वधा ।

इत्यादि अनेक जगहँ विश्वेश्वर देव का नाम आता है। विश्वेश्वर किसी खास देव का नाम है उसी को आदि लेकर और भी शासनदेवताओं का आदि पुराण में सम्बन्ध है। इसलिये शासनदेवतासादर विनय के योग्य

हैं। जो लोग निषेध करते हैं उनकी कल्पना ठीक नहीं है। और भी दो चार शास्त्रों के प्रमाणों को इस विषय में देकर लेख समाप्त करता हूं। मानने वालों के लिये तो दिग्दर्शनमात्र उपयोगी होता है और न मानने वालों के लिये चाहे सिद्धान्त भी खोलकर क्यों न रख दिये जाँय तो भी वे वैसे के वैसे ही धरे रहेंगे। परन्तु यह बात जिनाज्ञा के मानने वालों के लिये उचित नहीं हैं। हम किसी जगहँ यह लिख आये हैं कि कुदेवों के विषय में आगे चल कर लिखेंगे। इसलिये सारचतुर्विंशतिका के आधार पर कुदेवों का स्वरूप लिखते हैं। शासनदेवता और इनके स्वरूप में जो भेद है वह ठीक २ निश्चित हो जायगा।

सारचतुर्विंशतिका के सम्यक्त्व प्रकरण में यों लिखा है—

यक्षः कुचण्डिका सूर्यो ब्रह्मा विष्णुविनायकः।
क्षेत्रपालः शिवो नागो वृक्षाश्चाऽपिप्पलादयः॥
गोवायसादितिर्यंचो ह्याचाम्लभोजनादयः।
यत्राऽर्च्यन्ते शठैरेते देवमूढः स उच्यते॥
देवत्वगुणहीनास्ते निग्रहाऽनुग्रहादिकम्।
पुसां कर्तुं क्षमा नैव जातु संस्थापिताः शठैः॥

अर्थात्—यक्ष, चण्डिका, सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु, विनायक, क्षेत्रपाल, शिव, सर्प, पिप्पलादिक वृक्ष, गौ, काक, इत्यादिकों को जो लोग पूजते हैं उसे देवता मूढ कहना चाहिये जब ये स्वयं यथार्थ देवत्व गुण से हीन हैं फिर दूसरों के निग्रहादि करने को कैसे समर्थ कहे जा सकते हैं।

इन्हें तो मूर्ख लोगों ने स्थापित कर रक्खे हैं। इन श्लोकों में यक्ष, क्षेत्रपालादि को का भी नाम आया है परन्तु वे जिनशासन के देवता नहीं है। यह बात इन श्लोकों से ही खुलासा होती है।

प्रश्न--इस में प्रमाण क्या है जो इन्हें शासनदेवताओं से पृथक् समझें ?

उत्तर-आदिपुराणादि से शासनदेवताओं और मिथ्यात्वी देवताओं का पृथक्पना अच्छी तरह सिद्ध होता है। क्योंकि मांसवृत्तिवाले देवताओं का उन्होंने निषेध किया है। और शासनदेवताओं की तो यह वृत्ति नहीं है। अस्तु, थोड़ी देर के लिये यह भी गौण करदिया जाय। परन्तु जिन ग्रन्थकार का बनाया हुआ सारचतुर्विंशति का है उन्हीं ने वर्द्धमानपुराण के १२ वे अधिकार में इस तरह शासनदेवताओं के विषय में लिखा है—

लभन्तेऽत्र यथा यक्षा जिनाङ्घ्र्यब्जाश्रयान्महम् ।
तथानीचा मनुष्याश्च पूजां तव प्रसादतः ॥

अर्थात्—जिस तरह इस संसार में यक्षादि देवता तुम्हारे चरणकमलों के आश्रय से पूजा को प्राप्त होते हैं उसी तरह मनुष्य भी आप के अनुग्रह से पूजा को प्राप्त होता है। अब तो शासनदेवता तथा मिथ्यात्वी देवों का भेद मालूम हुआ न ? शासन देवता दोषी नही है इसीलिये मान्य हैं सो भी नहीं है किन्तु प्रणिधानपूर्वक विचार करने से यह बात सहज अनुभव में आसकेगी कि

शासनदेवता किसलिये सत्कारादि के पात्र हैं। और भी शासन देवताओं के विषय में सुनिये।

ज्वालामालिनीकल्प में लिखा है कि—

सम्यक्त्वद्योतका यक्षा दुष्टदेवापसारिणः।
सम्मान्या विधिवद्भव्यैः प्रारब्धेज्यादिसिद्धये।

अर्थात्—सम्यक्त्व के उद्योत करने वाले और कुदेवों के दूर करने वाले शासनदेवता आरंभ किये हुवे प्रतिष्ठादि महोत्सवों मे यथायोग्य भव्यपुरुषों को मानने चाहिये।

इत्यादि संहिता, प्रतिष्ठापाठादि शास्त्रों में शासनदेवताओं के आव्हाननादि विषय में सविस्तर लिखा है। उसे किसी तरह कोई अयोग्य नहीं बता सकता। और न शासनदेवता के आराधन वेगरह से देवतामूढ दोष का भागी होना पड़ता है। परन्तु वह आराधन स्वार्थ छोड़ कर यशस्तिलक के लिखे हुवे श्लोकों के अनुसार होना चाहिये। उसके विपरीत चलने वाले वास्तव में दोष के भागी होंगे।

इतने शास्त्रों के प्रमाण होने पर भी यदि किसी महाशय के हृदय में सन्देह कील पहले की तरह पीड़ा देती रहे तो उनके लिये एक और उपाय लिखते हैं मैं आशा करता हूं कि यह अन्तिम प्रयत्न वास्तव में उनलोगों को सुखावह, होगा।

जिनदेव की पूजन विधि के अन्त में विसर्जन करने की सब जगहँ पृथा है। विसर्जन पाठ भी सब जगहँ

एक ही तरह से पढ़ा जाता है उसी में यह लिखा हुआ है कि—

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम् ।
ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथा स्थितिम् ॥

इसका अर्थ यह है—पूजन की आदि में जिन २ देवताओं का मैंने आव्हाननादि किया है। भक्ति करके पूजा (सत्कार) को प्राप्त हुवे वे सब देवता अपने योग्य-पूजन के भाग को ग्रहण करके अपने २ स्थान को जावें इस श्लोक में " यथाक्रमं लब्धभागाः " "यथास्थितिम्" आदि पद ऐसे पड़े हुवे हैं जिनसे स्पष्ट शासन-देवतादि का बोध होता है।

प्रश्न-यह कहना ठीक नही है क्योंकि इसी श्लोक में "ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या" यह पद भी पड़ा हुआ है इससे स्पष्ट होता है कि यहां जिनदेव का सम्बन्ध है क्योंकि शासन देवताओं की भक्ति पूर्वक पूजन करने को तुम्ही पहले निषेध लिख आये हो ?

उत्तर यह कहना ठीक है परन्तु जरा विचारने का भी विषय है। हमारा यह कहना तो नहीं है कि इसमें जिनदेव शामिल नहीं हैं किन्तु जिनदेव के साथ २ जिन देवताओं का और भी आव्हानन किया गया है वे सब देवता अपने २ स्थान को जावें। यदि वास्तव में यह बात न होती तो " यथाक्रमं लब्धभागाः " अर्थात् अपने योग्य सत्कार को पाये हुवे तथा " यथास्थितिम् " अर्थात् अपने २ स्थान को इत्यादि पदों की कोई आवश्यक्ता न थी। इन पदों से स्पष्ट शासनदेवताओं का भी ज्ञान होता है।

प्रश्न--तुम्हारा यही कहना है कि इन पदों से जिनदेव से भिन्न भी कोई और देवता प्रतीति होते हैं। अस्तु, जिनदेव से अन्य साधु, आचार्य, सरस्वती, आदि का ग्रहण कर लेंगे फिर तो किसी तरह का विवाद नहीं रहेगा ?

उत्तर-यह कहना भी नहीं ठीक है क्योंकि श्लोक में "आहूता ये पुरा देवा" अर्थात् जो देवता मुझ करके आव्हानन किये गये हैं। इसमें देवशब्द पड़ा हुआ है साधु, आचार्यादिक तो देवशब्द से आव्हानन नहीं किये जाते हैं इसलिये वास्तव में शासनदेवताओं का ही ग्रहण है। इन्द्रनान्दिसंहिता में विसर्जन के समय इसी तरह लिखा हुआ है—

देवदेवार्चनार्थं ये समाहूताश्चतुर्विधाः ।
ते विधायाऽर्हतां पूजां यान्तु सर्वे यथायंथम् ॥

अब तो समाधान हुआ न ? रही यह बात कि पूर्वश्लोक में "ते मयाऽभ्यर्चिता भक्तथा" यह पद है इसका तात्पर्य भक्ति से अर्थात् विनय पूर्वक सत्कार किये हुवे। और यह ठीक भी तो है क्योंकि सत्कार तो विनय पूर्वक ही होता है। जिस में भक्ति नहीं फिर उसका सत्कार ही क्या होगा। भक्ति का यह अर्थ नहीं है कि जैसे जिन-भगवान् पूजे जाते हैं वैसे ही शासनदेवता भी। इसी से श्लोक में "लब्धभागा यथाक्रमम्" पद की सार्थकता है। यशस्तिलक में भी अभिषेक विधि में शासनदेवताओं का जिकर आया है।

योगेऽस्मिन्नाकनाथ, ज्वलनपितृपतेनैगमेय प्रचेतो
वायो रैदेशशेषोडुपसपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्राः ।
मन्त्रैर्भूः स्वः सुधाद्यैरधिगतवलयः स्वासु दिक्षूपविष्टाः
क्षेपीयः क्षेमदक्षाः कुरुत जिनसवोत्साहिनं विघ्नशान्तिम् ।

इसी तरह अनेकशास्त्रों में शासनदेवताओं के सम्बन्ध में लिखा हुआ है उसे मानना चाहिये। प्राचीन आचार्यों की कृति का उच्छेद करना महापाप है।

प्रध्वस्तघातिकर्माणः केवलज्ञानभास्कराः ।
कुर्वन्तु जगतः शान्तिं वृषभाद्या जिनेश्वराः ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

मङ्गलं भूयात् ।

निवेदन.

पाठक महोदय !

साविनय आप लोगों की सेवा में यह छोटा सा ग्रन्थ समर्पित करता हूं। मैंने जहां तक हो सका प्रत्येक विषय को अच्छी तरह विचार कर लिखा है फिर भी इस बात के कहने का अधिकार नहीं रखता कि इसमें किसी तरह का दोष न होगा। क्योंकि मनुष्यों से भूल होना यह एक साधारण बात है फिर तो मैं एक द्वाविंशतिवर्षीय छोटा बालक हूं। परन्तु साथ ही यह भी कह देना हानिकारक नहीं समझता कि कदाचित् आपलोग मुझे बालक समझ कर "बालानां भाषितेषु का श्रद्धा" ऐसा विचार कर इससे उपेक्षा करने लग जावें इसलिये कहना पड़ता है "ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्या बचने विपश्चितः" अर्थात् गुणों के गृहण करनेवाले बुद्धिमान् लोग वक्ता विशेष (यह बालक है यह वृद्ध है) इत्यादि में आस्था रहित होते हैं। इसी नीति का सभी को अनुकरण करना चाहिये। मैंने इस ग्रन्थ में कोई बात शास्त्रविरुद्ध नहीं लिखी है किन्तु जैसा प्राचीन मुनियों का कथन है उसे ही एकत्र संग्रह किया है। इसलिये सर्वथा स्वीकार करने के योग्य है।

यह मेरा पहला प्रयास है इसलिये मुझे हास्यापद न बना कर मेरे छोटे दिल के बढ़ाने का उपाय करेंगे। यदि अनवधानता से कुछ परंम्परा से विरुद्ध लिखा गया हो तो क्षमा करेंगे और आगामी सुधारने की आज्ञा देकर अनुग्रहाई बनावेंगे।

सबका दास.

वही मैं एक.

शुद्धिपत्र ।

अशुद्धि		शुद्धि		पंक्ति		पृष्ठ
है.	...	होती.	...	११	...	४
(८२१)	...	(८८१)	...	१०	...	६
यशस्लिक	...	यशस्तिलक	...	२	...	७
रखता	...	रखना	...	१०	...	७
जिन्हे	...	जिन्हें	...	६	...	८
गुणोना	...	गुणेना	...	९	...	८
ने	...	नमे	...	५	...	९
		ग्रन्थारम्भ.				
दुश्वार	...	दुष्वार	...	८	...	२
इन	...	उन	...	१७	...	२
सद्दशैः	...	सद्रसैः	...	९	...	७
मीक्षुःसालिल	...	मीक्षुसलिल	...	५	...	८
भवं	...	भवे	...	१४	...	८
अहन्त	...	अर्हन्त	...	२०	...	९
प्राचान	...	प्राचीन	...	५	...	१६
किसी	...	किसीतरह	...	१	...	२१
त्तर	...	उत्तर	...	१२	...	२७
प्रयागों	...	प्रयोगों	...	२३	...	३३
लोक	...	लौकिक	...	२२	...	३९
श्रृणु	...	शृणु	...	१०	...	५२
चूणामणी	...	चूडामणी	...	१४	...	५३
जगत्रयस्य	...	जगत्त्रयस्य	...	१४	...	५३
पुष्पभी	...	पुष्पं	...	१८	...	५३

अशुद्धि		शुद्धि		पंक्ति		पृष्ठ
अबवा	...	अथवा	...	२३	...	५६
स्वजम्	...	स्रजम्	...	२२	...	५७
जिनभगावान्	...	जिनभगवान्	...	१८	...	५८
चकरत्न	...	चक्ररत्न	...	१८	...	५८
वस्र	...	वस्रे	...	२२	...	५८
हों	...	हैं	...	३	...	५९
दिगम्बरीयों	...	दिगम्बरियों	...	१३	...	६०
बन्व	...	बन्ध	...	११	...	७६
पञ्चद्रिय	...	पञ्चेन्द्रिय	...	१३	...	७६
मकानादिको	...	जिनमन्दिरादिकों	..	१५	...	७६
सद्दशैः	...	सद्रसैः	...	२१	...	८०
जिनें	...	जिनं	...	२२	...	८०
श्रुतिका	...	श्रुतिको	...	१८	...	८६
मुाषतद्रव्य	...	मुषितद्रव्य	...	४	...	८७
उत्तरमुखकी	...	उत्तरमुखकी ओर	...	३	...	८९
स्तनन	...	स्तवन	...	१९	...	९१
प्रसक्रम्	...	प्रसक्तम्	...	५	...	९३
पतिचिन्ह	...	यतिचिन्ह	...	६	...	९३
खड़ा	...	खडे	...	१८	...	९४
उवविसड	...	उवविसउ	...	१४	...	९६
आर	...	और	...	१८	...	९९
द्विद्रियादि	...	द्वीन्द्रियादि	...	१३	...	१०२
ानष्फला	...	निष्फला	...	१४	...	१०३
ादली	...	दिली	...	११	...	१०५
रहने में	...	रहने से	...	१२	...	१२४

अशुद्धि		शुद्धि		पंक्ति		पृष्ट
शाक्ष	...	शास्त्र	...	११	...	१२६
उपयोग	...	उपयोग में	...	२	...	१३१
(वर्तावतरण)	...	(व्रतावतरण)	...	२१	...	१३५
श्रावकाध्यन	...	श्रावकाध्ययन	...	२२	...	१३५
गर्मधानादि	...	गर्भाधानादि	...	१	...	१३८
उस्तर	...	उत्तर	...	५	...	१३८
गन्धदब्य	...	गन्धद्रव्य	...	२२	...	१३८
महाष	...	महर्षि	...	१०	...	१४०
देवताओं	...	देवताओंके	...	१६	...	१५५
सर्वार्थसिद्ध	...	सर्वार्थसिद्धि	...	१४	...	१५९

विनय.

पाठक महोदय !

हमारी भूल से पहले के चार फार्म कलकत्ते के टाईप में छप गये हैं उनमें कितनी जगहँ मात्राएँ ठीक २ नहीं खुली हैं । उन्हें जहां तक होसका शुद्धि पत्र में ठीक करदी हैं परन्तु और भी गलती रहने की संभावना है इसलिये क्षमा करेंगे ।

इस ग्रन्थ के खरीदने वालों के लिये:—

नियम.

(१) जो लोग एक साथ आठ पुस्तकें खरीदेंगे उन्हें आठ के स्थान में एक और उपहार की तरह समर्पण की जायगी।

(२) आठ से कम खरीदने वालों को बराबर मौल्य देना होगा।

(३) जो लोग इकट्ठी खरीद कर अपने धर्मात्मा भाईयों के लिये वितीर्ण करना चाहें उन्हें नीचे लिखे पते पर पत्र व्यवहार से निर्णय करना चाहिये।

पुस्तकें नीचे लिखे पते पर मिल सकेंगी:—

☞ गेंदालाल जैन

"स्वतंत्रोदय" कार्यालय

पोष्ट बड़नगर (मालवा)